# विषय सूची

## पहिला परिच्छेद



## दूसरा परिच्छेद

## तीसरा परिच्छेद

पृष्ठ



## चौथा परिच्छेद



---

# शुद्धि पत्र

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध पाठ | शुद्ध पाठ |
|---|---|---|---|
| भूमिका प्रथम पृष्ठ | १७ | mbluengu | influenza |
| घ | १ | विचारे ही चार | विचारे चार |
| ङ | ६ | कथानुसार | कथनानुसार |
| च | ८ | एन गत | येन गतः |
| २ | १२ | पुर्पार्थो | पुरुपार्थी |
| ३ | २३ | नाम | मान |
| ४ | १२ | वाय्वोदीना | वाय्वादीनां |
| ८ | ५ | परिसुष्यति | परिशुष्यति |
| ८ | ८ | विद्यात्मन्मथराख्य | त्रिद्यान्मन्थराख्य |
| १८ | १२ | कोई | कई |
| १६ | ११ | प्रकृत-माता | प्रकृति-माता |
| २२ | २१ | क्वनहान | क्वैनैन |
| २४ | १७ | व्याधि जन्तु के | व्याधि जन्तु या |
| २५ | २ | मिल जाता है पशु; | कुछ भी पशु |
| ,, | ,, | अगों से जो प्राप्त | अगों से प्राप्त |
| २८ | १२ | जाति के जीवाणु है | जाति के जैव हैं |
| ,, | १५ | मनुष्य नहीं | मनुष्यों को नहीं |
| ,, | १६ | प्रयोग जरमन ने करने | प्रयोग कर जर्मन ने |
| २६ | २२ | अन्तरीय विजयनी | अन्तरीया विजयनी |
| ३४ | २ | शक्ति की | शक्ति का |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध पाठ | शुद्ध पाठ |
|---|---|---|---|
| ३५ | ३ | तक मिगावें | तक गिनावें |
| ३५ | १८ | अन्त्र कलों | अन्त्र कला |
| ३६ | २ | राजद्मा | राजयद्मा |
| ३८ | ३ | होते हैं | होता है |
| ३८ | ६ | स्धान | स्थाथ |
| ४३ | १८ | बनता | बनाता |
| ४४ | २२ | क्रियासे से | क्रिया से |
| ४७ | ३ | ein | eine |
| ४७ | १६ | लाल | लाला |
| ४८ | १ | सारा | सार |
| ४८ | ४ | शररिं | शरीर |
| ४६ | ११ | द्राचोज | द्राचीन |
| ५० | ८ | प्रतिक्रिया अम्लीय | प्रतिक्रिया चारीय |
| ५४ | २३ | जाात | जाता |
| ५६ | ३ | शरीरावयों | शरीरावयवों |
| ५७ | २१ | जानता वे ही | जानते वे ही |
| ५६ | २२ | अभिज्ञ | अनभिज्ञ |
| ६१ | १० | लेही का | लेही पर |
| ६२ | १८–१६ | सारवान् वस्तु के अधिक खाने से; | सारवान् वस्तु जैसे— |
| ६४ | ४ | अस्रजनीय | अस्रजिदीय |
| ६६ | १३ | आचूषको द्वारा | आचूषकों में |
| ७० | ८ | जैवारि | जीवारि |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध पाठ | शुद्ध पाठ |
|---|---|---|---|
| ७३ | ५ | अवश्यक | आवश्यक |
| ७४ | ४ | अगों में | अंग में |
| ,, | ८ | दूषी निर्दूषी | दोषी निर्दोषी |
| ७५ | २ | लाता | जाता |
| ,, | १५ | दूघु | दूध |
| ७६ | ८ | पहुचता | पहुंचाता |
| ७७ | १५ | उस जैव | उस से जैव |
| ७८ | १२ | होता है | हो जाता है |
| ८१ | ,, | समझे हैं | समझते हैं |
| ८५ | २ | मन्थर | मन्थरी |
| ८६ | १५ | इस में | इन में |
| ८७ | १३ | ह | हों |
| ९५ | ४ | मन्थरी मल उक्त ही व्याधि; | मन्थरी मल व्याधि |
| ,, | १८ | की एक | की विभिन्नता |
| १०३ | ४ | न प्राप्त न | प्राप्त न |
| ११९ | १० | वासत्व | वास्तव |
| १२१ | १ | शिराःमूल | शिर.शूल |
| ,, | २ | आकार | आकर |
| ,, | ११ | प्रस्वदे | प्रस्वेद |
| १२६ | १२ | प्रायन्त | प्राणान्त |
| १२८ | १६ | अन्त्र प्रदाह | अन्त्रकला प्रदाह |
| १२८ | १६ | अन्त्र प्रदाह | अन्त्रकला प्रदाह |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध पाठ | शुद्ध पाठ |
|---|---|---|---|
| १३० | १२—१३ | पर वास्तव में एसा नहीं है। | सृष्टि की दो मुख्य वस्तुएं— |
| १३१ | १७ | परिवतनीया | परिवर्त्तनीया |
| १३२ | १६ | रूप | रूप |
| ,, | २० | परिस्थि के | परिस्थिति के |
| १३७ | ३ | मापकी | मापक की |
| १३८ | १३ | वटती | घटती |
| १३६ | २० | स्वतन्त्र | मिश्रित |
| १४० | २२ | करने और विष में | करने में |
| १४१ | ३ | प्रतिरोधन | प्रतिरोध |
| १४२ | ८ | अपना | वह |
| १४३ | ४ | फलवारी | फल देने वाली |
| ,, | ७ | समयन्ति | शमयन्ति |
| १४५ | १६ | विंचार कर सकते हैं। हम | विचार कर सकते हैं, विचारते हैं |
| ,, | २३ | शरीर का | शरीर को |
| १४६ | २० | तरह भी प्रकृति | तरह प्रकृति |
| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध पाठ | शुद्ध पाठ |
| १४७ | ५ | लिखे के | लिखे चिकित्सा |
| ,, | ८ | ज्वर | ज्वरं |
| १५० | १ | द्वन्द | द्रव्य |
| ,, | २ | कवल | केवल |
| ,, | १६ | दिखला है। | दिखलाना है |
| १५२ | ८ | अन्य के चूका | अश्व कंचुकी |

# भूमिका

ई भी शत्रु जो सदा समीप रहता हो, जिसकी कुटिल नीति, दांव पेच से काम पड़ता रहे, तो मनुष्य उसकी प्रत्येक रीति, नीति, चाल, ढाल आक्रमण क्रम व व्यवहार से बहुत कुछ परिचित हो जाता है । किसी समय शत्रु यदि गुप्त या प्रकट आक्रमण का आयोजन करे, ऐसे समय एक तो प्रथम ही उसका ज्ञान, उसका सुराग लग जाता है. यदि न भी लगे तो अवसर आने पर मनुष्य उस से बचने का कोई न कोई उपाय निकाल ही लेता है। परन्तु जब कोई अज्ञात शत्रु आ जाय, जिसके छल, छिद्र, कुटिल चालें नई हों, आक्रमण का क्रम भी ऐसा हो जिसका हमें स्वप्न में भी ज्ञान न हो, तो ऐसी दशा में उससे बचना कठिन ही नहीं असम्भव हो जाता है ।

इस देश में जब से गौराङ्ग महाप्रभुओं का पदार्पण हुआ, इनकी कृपा से हम सब को जो सुख, समृद्धि, ज्ञान, विज्ञान, शूरता, सभ्यता प्राप्त हो रही है वह किसी से छिपी नहीं, किन्तु इनके संसर्ग दोष से जो हमें सुजाक Gonorrhoa, आतशक Syphilis, गठिया Gout, नि:श्रान्तकी-ज्वर Influenga, प्लेग Palgue, शीर्ष-मण्डल-प्रदाह Cerebro Spinal tever, पीत-ज्वर yelloue teuer, आदि अनेक दुर्निवार व्याधियां मिली है उसको कोई भी भारत का लाल भूल नहीं सकता ।

जिस तरह से अंगरेज हमारे देश में व्यवसाय करने की इच्छा से

आकर अपनी छल-प्रपञ्ची कुटिल नीतियों द्वारा इस देश की भोली भाली, धर्म-भीरु जनता के महाप्रभु बन गये, और अपने साम, दाम, दण्ड, भेद रूपी नीति जल प्रवाह को फैलाकर धन सम्पत्ति रूपी रक्त को चूसने वाली कानून नामक जोंक को उत्पन्न करके देश का रक्त निर्भय होकर पान करने लग रहे है, और इस प्रयत्न में लगे रहते हैं कि सिसकने तक नहीं देते । ठीक इसी तरह इनके देश से आई हुई उक्त दुर्निवार व्याधियां भी हम गरीब, निर्बल प्राणियों के प्राणों की प्रभु बन बैठी हैं। और देश की दुःखी, रक्तहीन जनता का रहा सहा रक्त चूस २ कर उनको ऐसा जर्जरित कर डाला है कि दम लेना कठिन हो रहा है। एक तो भाग्यहीन भारतवासी उसी तरह प्राचीन काल से क्षय, विषम-ज्वर, विशूचिका, कुष्ट, फुफ्फुस-प्रदाह आदि अनेक दुर्निवार व्याधियों के शिकार बने हुए थे, और दुःख सागर के लहरों की चपेट प्रति ऋतु मे खाते रहते थे, तिस पर आतशक, सुजाक, गठिया, प्लेग, मन्थर आदि विदेश की भयंकर व्याधियों ने इस देश में घुस कर जो गगन भेदी पाहिमाम् २ की क्रन्दन ध्वनि आरम्भ करा रक्खी है, वह अकथनीय है।

खैर ! जो व्याधियां अतीत काल से भारतवासियों के पल्ले पड़ी थीं चाहे वह कष्ट साध्य थीं या असाध्य, यह उनका सामुख्य लेते हुए बहुत कुछ निवारण क्रम को जान गये थे। इन्होंने कितनों ही रोगों को दबाने के लिये अपने अन्दर क्षामक-शक्ति भी उत्पन्न कर ली थी, कितनों ही के कृत्रिम उपाय भी प्राप्त कर चुके थे। जब कभी इनका प्रकोप होता अपनी सह्य-शक्ति से या उपचार से दमन करते हुए शीघ्र या देर में उनसे निस्तार। पा जाते थे। जो व्याधियां अत्यन्त प्रबल व दुर्निवार

भी थीं यथा—कुष्ठ, क्षय आदि उनको भी यह जिस कृत्रिम व स्वाभाविक शक्ति से रोक सके हैं, उसकी तुलना संसार में नहीं मिलती। इन रोगों को रोकने में कोई भी चिकित्सा-पद्धति इतनी सफल नहीं हुई जितनी आयुर्वेदिक-पद्धति। इस बात को मुक्त कण्ठ से संसार मानता है।

परन्तु विदेश की नई २ व्याधियें जिनका कारण ही ( जीवाणु, कीटाणु वाद ) नया था, जिसके सम्बन्ध में हमारा परिज्ञान वास्तव में सीमित रहा है, इसलिए इनका निवारण कठिन ही नहीं कठिनतर बन गया।

इसमें कोई संशय नहीं कि इस समय इन नई २ व्याधियों की जो चिकित्सा आयुर्वेद के ज्ञाता वैद्यों ने आविष्कृत की है, और जो सफलता इनको प्राप्त होती जा रही है संसार के किसी भी चिकित्सक समुदाय को प्राप्त नहीं हुई। इतना होने पर भी जितना अधिक हम निर्बलों, निर्धनों को—हमारी निर्बलता, दरिद्रता के कारण—यह व्याधियां हमें सताती हैं, इतना और देश वासियों को नहीं।

जिस तरह अंग्रेज महाप्रभु हमको हर बात में निर्बल बनाये रख कर अपना प्रभुत्व हम पर बनाये रखना चाहते हैं, और अनन्त काल तक हमारा पीछा छोड़ना नहीं चाहते। ठीक इसी तरह हमारे निर्बल स्वास्थ्य व खान, पान, रहन, सहन से लाभ उठा कर यह व्याधियां भी हमारा पीछा छोड़ना नहीं चाहतीं। प्रत्युत हम देखते हैं कि यह अपना पैर जमाते हुए बढ़ती ही जा रही हैं। हम यहां पर प्रत्येक व्याधि का जिक्र करना नहीं चाहते, क्योंकि इस समय हमारा हर एक व्याधि के वर्णन से प्रयोजन नहीं। यहां प्रयोजन केवल मन्थर-ज्वर का है इसलिए हम केवल इसी एक व्याधि पर जो कुछ लिखना है लिखेंगे।

यद्यपि इस देश में मन्थर-ज्वर का आगमन अंगरेजों के राजत्व काल से पहिले का है। यह व्याधि भारत में सर्व प्रथम यवनों के आक्रमण काल में आई, तथापि इसका अधिक प्रसार अंगरेज महाप्रभुओं के राजत्व काल में ही हुआ है। इतिहास से पता लगता है कि यह व्याधि आज से ७०० वर्ष पूर्व भारत के पश्चमीय-प्रान्त इरान, तुर्किस्तान, अरब, मिश्र आदि देशों में ही होती थी, वहीं से यह मुग़लिया खानदान के साथ उसी तरह भारत में आई, जिस तरह गोराङ्ग महाप्रभुवों के साथ २ उपदंश, सुजाक। इतने पर भी खोजने से ज्ञात होता है कि आज से सौ वर्ष पूर्व इसका जोर प्रायः भारत के पश्चमीय प्रान्त पंजाब, सिन्ध आदि में ही अधिक रहा। किन्तु, एक शताब्दी भी व्यतीत न होने पाई कि अंगरेजों के प्रभुत्व काल के साथ २ यह भी धीरे २ सारे भारत में फैल गई। और अब पञ्जाब, सिन्ध में तो वारहोमास तथा और प्रान्तों में ऋतु आने पर प्रायः देखी जाती है।

यद्यपि, यह व्याधि छोटे २ क्षीराशनी, सुकुमार वालकों को ही अधिक लगने वाली मानी गई है, और देखा भी ऐसा ही जाता है। पर कालचक्र की गति से संसार की हर एक वस्तुऐं अपनी २ मर्यादा छोड़ती चली जा रही है, उसी तरह यह भी अपनी मर्यादा छोड़ बैठी है। अब तो यह वालकों को ही क्या वुड्ढो तक को नहीं छोड़ती दूर के समय का जिकर नहीं करता, अभी पिछले वर्ष पञ्जाब के अमृतसर शहर में ही इसका इतना प्रवल प्रकोप रहा कि हजारों वालक व नर नारी एक वार ही इस के चंगुल में फंस गये। और वड़े २ जवान स्त्री पुरुषों को जरा २ से कुपथ्य कारण को पाकर ऐसा रगड़ा कि छः २ मास से ऊपर हो गये इस ने अव तक अनेकों का पीछा नहीं छोड़ा। अव भी

कितने विचारे ही चार पाइयो पर पड़े दुःख की घड़ियां गिन रहे हैं। मेरा कई वर्षों का अनुभव यह बतला रहा है कि इस शहर में प्रति वर्ष २५—३० प्रतिशत बालक तो जन्म लेने के कुछ समय पश्चात् प्रथम ही इस व्याधि का आखेट बनते है, और निर्बल होकर दूषित खानपान, रहन सहन के कारण पश्चात् क्षय या राजक्ष्मा के चंगुल में फंस जाते हैं, जिससे प्रायः कोई भाग्यवान् ही बचता है। अनेकों बालक प्रथम मन्थर ज्वर से प्रपीड़ित हो कर पुन मन्थर शोषी और इसके साथ कई क्षयी से प्रपीड़ित हो जाते है यह मेरा एक बार का नहीं अनेकों बार का अनुभव है।

एक और नई बात–इस वर्ष एक और नई बात यह दिखाई दी कि प्रसूता स्त्रियों को मन्थर-ज्वर अधिक हुआ। प्रसूत-काल रहने के कारण जब ज्वर हुआ ऐसे समय में एक तो रुग्णा प्रसूतागार मे रहने के कारण, दूसरे प्रसूत कालिक ज्वर का विश्वास होने के कारण व्याधि का ठीक २ निश्चय न किया जा सका। कई डाक्टर, वैद्य तो प्रसूता-ज्वर समझ कर इस की चिकित्सा करते रहे। जिस का परिणाम यह हुआ कि कईयों में इस ज्वर का जो रूप प्रकट होना था, न हो सका। कईयों की व्याधि पहिले ही विपरीत चिकित्सा के कारण बिगड़ गई, इसी कारण कई बेचारियां अब तक कष्ट का समय देख रही हैं, कई क्षय-रोग के पञ्जे में फंस चुकी हैं, और कई यकृत विकार, उदर विकार आदि में अब तक घिरी बैठी है। इस में से इस वर्ष भी मुझे अनेकों रोगियों को देखने और चिकित्सा करने का अवसर प्राप्त हुआ, जितने भी रोगी हमारी चिकित्सा पद्धति द्वारा क्रमबद्ध चिकित्सा करा चुके है भगवान् धन्वन्तरी की कृपा से सब पूर्ण स्वस्थता को लाभ कर चुके

हैं। इस व्याधि की जो आशातीत सफलता वैद्यों, डाक्टरों के समक्ष मुझे मिली है किसी से छिपी नहीं; प्रति-शत ही मन्थर के रोगी जीवन लाभ कर चुके हैं, हम इसी चिकित्सा-क्रम को वैद्य समुदाय के समक्ष रखते है।

यह चिकित्सा क्रम यद्यपि अनेक अंशों में नया है, तथापि हमारे ऋषि प्रणीत सिद्धान्तों से बाहर नहीं; इस ग्रन्थ में ऋषि प्रणीत ही सरल-सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। कई वैद्य सम्भव हैं इस चिकित्सा-पद्धति को एक दम नई समझ कर इस के क्रम पर विश्वास न करें, और मेरे कथानुसार चिकित्सा-क्रम जारी करने पर राजी न हों। एक पद्धति पर विश्वास करने वालों के द्वारा ऐसा होना स्वभाविक है। फिर भी प्रार्थना है कि उन्हें सत्यता का अनुगामी बनने के लिये इस की परीक्षा तो अवश्य करनी चाहिये।

### सरल-चिकित्सा-पद्धति का आविष्कार और भेंट—

वैद्यवरो! हम ने लगातार बीस बाईस वर्ष तक अनवरत परिश्रम के पश्चात् प्रत्येक व्याधि को समझने के लिये कई सरल सिद्धान्त आविष्कृत किये हैं, तथा व्याधियों के वास्तविक रूप को जानकर उन की सरल सुगम आयुर्वैदिक-चिकित्सा पद्धति भी क्रमबद्ध की है जो केवल काल्पनिक नहीं प्रत्युत, अनेकों रोगियों पर आजमाई और पूर्णतया समझी जा चुकी है। इस सारे क्रम को मैंने तीन बड़ी २ पुस्तकों में क्रम से लिखा है। जिस में से प्रथम पुस्तक है व्याधि मूल-विज्ञान, दूसरी है व्याधि-विज्ञान, तीसरी है चिकित्सा-विज्ञान। चिकित्सा विज्ञान में औषध-विज्ञान, औषध परीक्षा-विज्ञान आदि कई विभाग किये गये हैं। किन्तु, चिकित्सा के मूल तत्व चिकित्सा-विज्ञान

में रख दिये हैं । इन्हीं तीनों ग्रन्थों में प्रति पादित सरल-सिद्धान्तों के आधार पर यह मन्थर-ज्वर की अनुभूत-चिकित्सा नामक पुस्तक वैद्यों की सेवा में भेंट स्वरूप है। आशा है वैद्य समुदाय इस भेंट को सहर्ष स्वीकार करके प्रायोगिक अनुभव के पश्चात् इस की आलोचना करने का कष्ट उठावेंगे। बिना देखे समझे किसी वस्तु की वास्तविक स्थिति की टीका टिपणी अन्याय ही नहीं प्रत्युत सत् पथानुगामियों के लिये अनुचित भी है। इसीलिये, उन्हें 'महाजनो एन गतः स पन्थाः' का ही अनुकरण करना चाहिये। अलम्

वैद्य समुदाय का एक सेवक-

हरिशरणानन्द
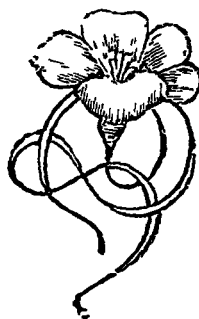
# ❀ प्रथम परिच्छेद ❀

## व्याधियों की प्राचीन व अर्वाचीनता पर एक दृष्टि ।

बहुत से व्यक्तियों की धारणा है कि सृष्टी में जिन सजीव व निर्जीव पदार्थों की रचना होनी थी वह सृष्टि के आरम्भ में ही एक बार हो चुकी है । अब न इस भूमि पर निर्जीव-पदार्थ बन सकते हैं न सजीव प्राणि उत्पन्न हो सकते है । क्योंकि, सर्व शक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर ने जो कुछ बनाना था आवश्यकतानुसार एक बार ही बना दिया । इस धारणा पर अनेकों काल से जनता विश्वास बनाये बैठी है, प्रत्येक धार्मिक विद्वान् भी इसी पक्ष में अपनी सम्मति रखते हैं । किन्तु प्रकृति-निरीक्षक-विद्वानों ने आज एक शताब्दी से जो प्रायोगिक खोजें जारी की हैं उनसे पता चलता है कि उक्त सिद्धान्त सही नहीं, अनेकों प्रत्यक्ष-प्रमाणों से उनका खण्डन हो जाता है। इस समय बहुत सी सजीव सृष्टि ऐसी देखी जा रही है जिसका पूर्वकाल में चिन्ह तक नहीं मिलता था, कई ऐसे भी प्राणी हैं जिनका अस्तित्व अब देखने में आरहा है, इसी तरह अनेक निर्जीव यौगिकों का हाल है। इससे भिन्न अनेक प्राणियों के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण ऐसे मिलते हैं जो उनका पूर्वकाल में होना तो सिद्ध करते हैं, किन्तु इस समय उनके वंश का चिन्ह तक नहीं मिलता, उनके चिन्ह केवल फौसीलों ( प्राचीन भूमिगत अस्थि पिञ्जरों ) के रूप में ही मिलते हैं । हम इन उपरोक्त सजीव निर्जीवों में से किसी के भी उदाहरण नहीं रखना चाहते । क्योंकि यह हमारे विषय से दूर हैं, हां हम कुछ

1336

ऐसे उदाहरण देंगे जिनका हमारे विषय से सम्बन्ध है। यह निश्चित है कि सृष्टि में सारी वस्तुयें एक बार नहीं बनी, प्रत्युत देश, काल, परिस्थिति को पाकर समय २ पर बनती और विकसित होती रही हैं। यह नियम क्या सजीव निर्जीव प्रत्येक प्रकार की सृष्टि पर लागू रहा है, और अब भी है । इस समय भी कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसमें विकास की क्रिया न देखी जाती हो। दूर की जाने दीजिये, कोई भी वैद्य इस बात को मानने से इनकार नहीं कर सकता कि प्लेग, मन्थर-ज्वर, फिरंग, सुजाक, कुक्कुर-कास, कुकुम ज्वर ( Typhus feuer ) श्यामाजार ( kala azar ) वेरी वेरी ( Beri Beri ) इत्यादि अनेक व्याधिया प्राचीन नहीं, प्रत्युत नई हैं। इनका वर्णन न चरक में है, न सुश्रुत में, न और किसी ऋषि या आचार्य प्रणीत ग्रन्थों में मिलता है । न इन जैसे लक्षण वाली कोई व्याधिया पाई जाती हैं। इसमें कोई संशय नहीं कि कई हमारे पुर्णायी-वैद्य अपनी विचार शून्य प्रथा पर अन्ध-श्रद्धा बनाये रखने के कारण प्राचीन ग्रन्थों में इनको ढूढने का निष्फल प्रयत्न करते रहते हैं। और जब किसी भी प्राचीन व्याधि में उक्त व्याधि सूचक जरा भी संकेत मिल जाते हैं तो वह यह कहने मे नहीं चूकते कि देखो हमारे यहा इसका सूत्र रूप से वर्णन मिलता है, किन्तु इनमें उन्हें कहा तक सफलता मिली है यह किसी से छिपा नहीं। क्योंकि जिस तरह आजकल नित नई ही व्याधिया निकलती चली आ रही है जिसके विकास की कोई सीमा नहीं। इस असीम प्रादुर्भावीयावस्था में भला कौन कहा तक उक्त व्याधियों को सीमित वर्णनों में ढूंढ पावेगा, आखिर एक दिन इसका भी अन्त होने वाला है। जो क्रम इस समय वैद्यों ने पकड़ा हुआ है ठीक यही क्रम आज मे वीस पचीस वर्ष पूर्व आर्य्य समाज ने पकड़ा था, वह भी वेदों के भीतर विज्ञान ढूढता था। किन्तु एक सीमित वर्णन के अन्दर नित नये आविष्कारों को कोई कब तक ढूढ सकता था। अन्त में ' मौनं सर्वार्थ साधनम् ' का उन्होंने अव-

लम्बन लेना ही उचित समझा और चुप हो बैठे। यह सब ऐसा क्यों करते हैं? इसका मुख्य कारण उनका अन्धविश्वास है। उनको यह निश्चय है कि हमारे पूर्व पुरुष त्रिकाल दर्शी थे, इसी लिये वह समझते हैं कि उन्होंने अपनी पुस्तकों में संसार की सारी बातों का वर्णन कर दिया है। वेदों में भी कोई ऐसी बात नहीं छूटी जिसको सर्वज्ञ सर्वान्तरयामी ने न उपदेश दिया हो। किन्तु अब यह धारणा मिथ्या सिद्ध हो रही है।

हमारे पूर्व पुरुषों ने जो कुछ कहा, जो कुछ लिखा है, वह सब उनके जीवन का अनुभव था, उन्होंने उस समय जो भविष्यद्वाणी की भी है, वह ऐसी ही है जैसी आधुनिक तत्व दर्शियों की। यदि कोई अन्तर है तो वह अपने परिज्ञान का।

इसमें कोई संशय नहीं, कि हम भी इस बात की खोज में रहते हैं कि किसी नई बात का प्राचीन रूप ढूंढा जाय, और मालूम किया जाय कि इसका आविष्कारक कौन था, और कब हुआ। यदि हमें किसी ऐसी बात का पता लग जाय कि इसके आविष्कारक हमारे पूर्व पुरुष थे तो हमारे प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती। किन्तु किसी बात की वास्तविकता को नष्ट करके उसका काल्पनिक कृत्रिम रूप बनाकर दिखाना, यह हमको अभीष्ट नहीं। ऐसा करने से हमारे पूर्व पुरुषों का गौरव नहीं बढता, प्रत्युत ऐसा करना अपने पूर्व पुरुषों की उज्ज्वल कीर्ति को कलंकित करना है। हम इस के एक दो उदाहरण देंगे।

जिस समय से प्लेग हमारे देश में आई तब से आप देख रहे हैं कि अनेक वैद्य यह दिखलाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि यह व्याधि शास्त्रीय है, इसका वर्णन हमारे ग्रन्थों में आया है। इसलिये कई इसे अग्निरोहणी नाम देते हैं, कई सन्निपातों का भेद बतलाते हैं। कई इसे चरक संहिता में वर्णित जन-पद-विध्वन्सनीय व्याधियों के अन्तर्गत नाम

कर इस को भी जन--पद--विध्वन्सनीय--व्याधि कहते हैं। परन्तु, हम देखते हैं कि आज इस बीस वर्ष के प्रयत्न से क्या वैद्य, क्या वैद्य मण्डल एक भी कृत कार्य न हो सका। कुछ वैद्य इस बात पर अड गये हैं कि इसे जन--पद--विध्वन्सनीय--व्याधि मान लिया जाय, और इसका जो नाम प्रचलित है स्वीकार कर लिया जाय। पर यह हो किस तरह? कहा जन--पद--विध्वन्सनीय व्याधियों के लक्षण, कहां केवल जवान पुरुषों में होने वाला लेग।

## जन पद विध्वन्सनीय व्याधियों का कारण।

आत्रेय जी कहते हैं कि "बहुत से ऐसे भौतिक कारण उपस्थित हो सकते हैं जिन से **जन-समूह** का संघार होने लग जाता है। इन भौतिक कारणों में जल, वायु देश काल प्रधान हैं। अग्निवेश जी प्रश्न करते हैं कि भगवन्! वाय्वादि भौतिक पदार्थों के विकृत होने का कारण क्या है? तो आप उत्तर देते हैं **"वाय्वादीनां यद्वैगुण्य मुत्पद्यते तस्य मूल मधर्मः"** अर्थात्-वायु आदि के बिगड़ने का एक मूल कारण अधर्म है। अब कृपा करके आप अपनी छाती पर हाथ धर कर बतलाइये, कि भारतीय धार्म्मिक दृष्टि से हम सब अधिक अधर्मी हैं, या हम से भिन्न विदेश के व्यक्ति। हम अपनी धार्म्मिक दृष्टि से कभी भी अधर्मी हो नहीं सकते। यदि कोई कहे तो प्रमाण क्या?, हां! इसके विपरीत दूसरों को अपने से अधिक अधर्मी होने के हम अनेकों प्रमाण दे सकते हैं। यथा--हमारे देश के वैदिक आचारी धार्म्मिक व्यक्तियों को छोड़कर सारा संसार मद्य, मास सेवी है, और विदेशी तो पर स्त्रीगमन दुराचार आदि अधर्म प्रधान बातों को अधर्म नहीं मानते। अर्थात् यह बातें उनकी स्वभाविक हैं। फिर हमारे देश मे मद्य, मांस सेवी नीच पुरुषों में भी कुछ न कुछ शास्त्रीय धर्म भाव है, और विदेश के उक्त कर्मों से घृणा है, फिर हम अधर्मी कि और देश वासी। जिस देश में कोई आचार विचार नहीं, न जिस देश में वैदिक धर्म के चिन्ह

हैं, ऐसी दशा में उन म्लेच्छों को अधर्म के कारण जन-पद-विध्वन्सनीय-नामक रोग लगना चाहिये था, न कि " और करै अपराध कोई और पाव फल भोग " की कहावत के अनुसार प्लेग से मरना तो चाहिये विधर्मियों को, विदेशियों को, पर यह आफत भारतीय धर्मात्माओं के सिर आ चढी। और ऐसी आई कि 'भूतो न भविष्यति'। न देखा कि यह भगवत् भक्त हैं, न देखा अभक्त; न देखा विद्वान साधु-सेवी है, न लम्पट। जिस को इस प्लेग राक्षसी ने चुना मोटे ताजे हट्टे कट्टे तरुणतर पुरुष को अपने शिकार के लिये चुना। और जिस को अपने व्याधि पास में बाधा हजारों में से किसी भाग्यवान् को ही छोड़ा। आज चालीस वर्ष के भीतर २ करीब दो करोड भारत वासियों को यह कराल काल की कोठरी में जबर दस्ती ठूँस चुकी है, जिस में बडे २ धुरन्धर धर्मध्वजी भी थे, पर किसी धर्मात्मा में यह शक्ति न दिखाई दी कि इस यम किंकरी से अपना या देश का पीछा छुडाते।

उपरोक्त इतनी लम्बी चौडी पक्रिया देने का अभिप्राय यह है कि जब, रोग अधर्म से होता है तो अधर्मियों को ही लगना चाहिये, धर्मात्माओं को इस का स्पर्श तक न होना चाहिये; किन्तु, यह बात नहीं। अब दूसरी बात यह ह कि यह प्लेग जन-पद-विध्वन्मनीय व्याधि भी बनती है, या नहीं। इस की परीक्षा लेलीजिये। शास्त्रों में जन पद का अर्थ जन समूह किया है, जिस व्याधि से बालक वृद्ध युवा नर नारी सब ग्रसित हो जाय ऐसे रोगों को जन-पद-विध्वन्सनीय माना है, देखो चरक संहिता। जैसे विशूचिका या इन्फ्लूइञ्जा। ऐसी व्याधियों पर जन पद विध्वन्सनीय व्याधियों के लक्षण घटते हैं। किन्तु, जो व्याधि अपने लिये युवक, युवतियों को ही चुने, वृद्ध बालकों को प्रायः छोड़ दे, ऐसी व्याधि को जन-पद-विध्वन्सनीय नहीं कहा जा सकता। इस को जन-पद-विध्वन्सनीय व्याधियों के अन्तरगत करना सरासर अन्याय है, अनीति

है। इस तरह की बातों की खींचातानी करके पूर्व पुरुषों की कृति को बढ़ाना नहीं, प्रत्युत अपने अयोग्य कृत्यों से उन्हें लाञ्छित करना है।

हमें चाहिये कि हम जब किसी वस्तु की स्थिति पर विचार करने बैठें तो उसकी ऐतिहासिक स्थिति को सर्व प्रथम देख लें; और उसकी वास्तविक स्थिति तक पहुंचने या जानने का प्रयत्न करें। तत्पश्चात् यदि उसके सम्बन्ध में कोई भी प्राचीनता के प्रमाण मिलें तो हम उसको अपने प्राचीन ग्रन्थों से ढूंढ कर जनता के सामने रक्खें, तभी उन्नति के सच्चे मार्ग पर आकर अपना और देश का कल्याण कर सकते हैं; इस तरह कदापि नहीं।

जिस तरह प्लेग के सम्बन्ध में वैद्यों के अनिश्चित अधूरे सार शून्य विचार हैं उसी तरह मन्थर, फिरंग, सुजाक, फुफ्फुस प्रदाह (न्यूमोनिया) आदि अनेक नूतन व्याधियों के सम्बन्ध में भी हैं। इन्हें भी वह किसी न किसी प्राचीन-व्याधि के अन्तरगत करने की चेष्टा करते हैं। पर आज तक कोई भी वैद्य सफल होते नहीं देखा गया। उक्त व्याधियों पर केवल व्यक्तिरूप से ही विचार नहीं हुआ प्रत्युत, कई बार आयुर्वेद-सम्मेलनों पर भी विचार हो चुका है, पर कोई मार्ग निश्चित न हो सका। न तो कोई इन्हें शास्त्रान्तरगत कर सका, न स्वतन्त्र नई व्याधि स्वीकार करने के लिए कटिबद्ध देखा गया। हमारी दृढ़ धारणा है कि आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों यह अवश्य ही स्वतन्त्र व्याधिया स्वीकार की जांयगी। और यह बात भी स्वीकार की जायगी कि जिस तरह सृष्टि में और वस्तुओं का विकास हुआ, इनका भी उसी तरह हुआ। हमारे शास्त्रकारों ने भी इस बात को स्वीकार किया है। देखो चरक संहिता। आत्रेय जी ने भी इसी बातको कहा है कि "व्याधियां अपरि संख्येय हैं, जिनके नाम, रूप निश्चित करना कठिन है, जो व्याधि समय पाकर जिन २ दोषों से उत्पन्न हो, जैसे लक्षणों से युक्त देखी जाय, वैद्य दोष व लक्षण देख कर उनके नाम स्वयम्

निश्चित करलें"। इसका स्पष्ट तात्पर्य यही है कि अनेकों व्याधियों का विकास समय२ पर होता रहा है। हम देखते हैं एक ही व्याधि देश काल ऋतु को अनुकूल या विपरीत पाकर अपना रूप बदल देती हैं। अनेक व्याधिया इनके सकर से ऐसी उत्पन्न हो जाती हैं जिनका शास्त्र में नाम व रूप कुछ भी नहीं मिलता। इसी लिए ऐसी व्याधियों के सम्बन्ध में पहिले से कोई नहीं बतला सकता कि अमुक समय में कौन २ सी व्याधिया किस २ रूप में प्रादुर्भूत होंगी; इन को समय ही बतला सकता है।

ऐसा विश्वास बनाये रखना अब भूल है कि जो कुछ प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन किया जा चुका है उससे अधिक ससार में जानने लायक कोई बात नहीं। जो व्यक्ति ऐसा विश्वास बनाये बैठे हैं वह कभी भी उन्नति नहीं कर सकते। क्योंकि उनका विश्वास है जो कुछ जानने के लायक बात थी वह सब पुस्तकों में है, इससे परे जब कुछ है ही नहीं तो खोज किस बात को जानने के लिये की जाय। यह क्या खूब! कायरों को सतोष देने वाला निराशावाद पूर्ण सिद्धान्त है। इसी लिये, यहा हम इसको सदा के लिये तिलाञ्जली देते हैं। और उस उन्नतिशील अनन्त-जगत् में प्रवेश करते हैं, जहा करोड़ों वर्ष तक ज्ञानार्जन करते रहने पर भी किसी बात का अन्त नहीं हो सकता।

---

## मन्थर ज्वर का प्राचीन इतिहास

खैर! और बातों को छोड़ कर यह देखना है कि मन्थर-ज्वर नई व्याधि है या पुरानी। यद्यपि जैसे रूप व लक्षण वाला मन्थर-ज्वर प्रादुर्भूत होता है, ऐसे लक्षण वाली व्याधि का हमारे प्राचीन ग्रन्थों में नाम तक नहीं मिलता। तथापि मुसलमानी राजत्व काल में जो आयुर्वेदिक ग्रन्थों का निर्म्माण हुआ है

उन में से एक दो पुस्तकों में इसका उल्लेख है। उन में से योगरत्नाकर ग्रन्थ तथा निदान दीपिका में निम्नलिखित पाठ मिलता है—

श्लोक—घृताशनात् स्वेद रोधात् मन्थरो जायते नृणाम्।
ज्वरो दाहो भ्रमो मोहो ह्यतिसारो वमिस्तृषा।
अनिद्रा च मुख तालु जिह्वा च परिसुष्यति।
शसाहाद्वादशाहाद्वा स्फोटा सर्षपोपमा।
ग्रीवाया: परिदृश्यन्ते एकविंशति शाम्यति।
एभिस्तु लक्षणैर्विद्यात्मन्मथराख्यं ज्वरं नृणाम्॥

उक्त प्रमाण से ज्ञात होता है कि इस व्याधि को सबसे पूर्व उपचारसार ग्रन्थ के कर्त्ता ने देखा, जिसका संग्रह निदान दीपिका में मिलता है। इनका समय अधिक से अधिक ४००, ४२५ सौ वर्ष होता है। ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि यह व्याधि हमारे देश की नहीं। प्रत्युत यूनान, अरब, मिश्र, फारस आदि देश की प्राचीन व्याधि है। और मुसलमानों के राजत्व काल में उन के साथ २ यहा आई। हमारे देश में जो यूनानी चिकित्सा-पद्धति प्रचलित है यूनान या अरब देश की है, इस की जो पुस्तकें उर्दू में मिलती हैं उस में तो मन्थर रोग का कोई ऐतिहासिक वर्णन नहीं मिलता। किन्तु, अरबी भाषा की पुस्तकों में उक्त रोग का अच्छा वर्णन मिलता है। अरब के सब से प्राचीन प्रसिद्ध चिकित्सक बुकरात व जालीनूस हुए हैं। बुकरात ने उक्त व्याधि का तो साधारण वर्णन किया है किन्तु, जालीनूस ने अपने **तिन्नास** नामक ग्रन्थ में इसका अच्छा ऐतिहासिक वर्णन दिया है। हम वहा से लेकर इसका कुछ उल्लेख करते हैं।

अरबी भाषा में मन्थर का नाम 'हमीक़ा' दिया हुआ है, यह नाम यूनानी है; जिसे अरबी वालों ने सीधा अपना लिया था। फारसी वालों ने इस

व्याधि का नाम 'हुम्मा मुतकवा मुतनासा' रक्खा, और उर्दू वालों ने इसका नाम 'मुहर्रका इसहाली'।

जालीनूस अपने ग्रन्थ में लिखता है कि यह व्याधि मेरे देखने २ अरब में कई बार फैल चुकी है। और प्राचीनता के सम्बन्ध में लिखता है कि इसका पता एक हजार वर्ष पूर्व से मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि इसका ज्ञान आज से कोई दो हजार वर्ष पूर्व का है। यह पता नहीं चलता कि सबसे पहले यह किस देश में देखी गई, किन्तु इतना निश्चित हो गया है कि यह अरब, यूनान देश की प्राचीन व्याधि है और वहा से ही धीरे २ सारे ससार में फैली।

## भारत में इसका आगमन कब हुआ।

भारत में इसका आगमन मुसलमानों के आगमन से उसी तरह हुआ जिस तरह डचों के आगमन से फिरग, व सुजाक का हुआ। जिस समय सबसे पहिले डच लोग अपने व्यापारी बेडों द्वारा हिन्दोस्तान में आने जाने लगे, उन बीमार डचों के इस देश की वेश्याओं से ससर्ग होने पर इन व्याधियों का उन वेश्याओं में आगमन हुआ, और उन वेश्याओं से धीरे २ यह सारे भारत में फैल गई।

## मन्थर सञ्चार पर जालीनूस का कथन।

मन्थर का प्रादुर्भाव प्रायः वसन्त में ही होता है, और ग्रीष्म तक रहता है, इसीलिये इसको कई वसन्त ऋतु की व्याधि कहते हैं। जालीनूस भी कहता है कि यह वसन्त में ही होती है। वह लिखता है कि "एक वार यह व्याधि वसन्त ऋतु के आगमन के साथ साथ उत्पन्न हुई और थोड़े ही दिनों में सारे के सारे अरबप्रान्त में फैल गई, हजारों बच्चे इस रोग से घिर गए, कोई २ बड़ी उमर वाला भी बीमार देखा गया। वह लिखता है कि इस व्याधि पर यहा के हकीमों का बहुत कम अनुभव था, इसीलिए वह इसे उदर का रोग समझ कर रेचन औषध का प्रयोग करते थे, जिसका परिणाम बहुत बुरा

होता था, अनेकों बच्चे विना मौत मर जाते थे। वह कहता है कि मैंने इस व्याधि के रूप को खूब जांचा और मालूम किया, व्याधि का असर प्राय: छोटी आतों की झिल्ली में होता है, यदि इसमें विरेचन की औषध दी जाय तो आतों की झिल्ली में खराश (प्रदाह) उत्पन्न हो जाता है, इससे न रुकने वाले रेचन आने लगते हैं, इसीलिए मैंने कभी रेचन औषध नहीं दी, में प्रायः दोष-शामक व पाचक औषधियों का प्रयोग कर रहा हू"।

हमारे यहा भी इसका प्रादुर्भाव वसन्त ऋतु के आगमन समय में ही देखा जाता है, पर कुछ समय से इसका यह क्रम टूटता नजर आता है, अमृतसर, लाहौर जैसे शहरों में तो वारहो महीने कुछ न कुछ बनी ही रहती है।

---

## मन्थर ज्वर का कारण और सूक्ष्म जन्तु-वाद

जब तक सूक्ष्म जन्तुओं का ज्ञान नहीं हुआ था। तब तक सञ्चारी असञ्चारी कोई भी व्याधि हो देश, काल, जल, वायु, खाद्य, पेय विकार दोष ही इन की उत्पत्ति के कारण समझ जाते थे। जालीनूस इस व्याधि को एक से दूसरे में लगने वाली, फैलने वाली, वतलाता है। किन्तु, इसका कारण जल वायु विकार को ही निश्चित करता है। वह कहता है कि आवोहवा से जो खुराक में नुक्स उत्पन्न हो जाते हैं, वही इसके कारण हैं। इसी से यह एक साथ हर तरफ फैल जाती है। जब तक सूक्ष्म जन्तुओं का पता नहीं लगा था व्याधियों के होने में इन्हीं कारणों को प्रायः प्रधानता दी जाती थी। किन्तु, १८६२ ईसवी में लूई पाश्चर नामक एक वैज्ञानिक ने जब 'सूक्ष्मदर्शक-यन्त्र से सूक्ष्मवस्तुओं का निरी-क्षण-करते २ ऐसी सूक्ष्म-वस्तुओं को देखा जो इधर उधर गतिशील थीं; प्रयत्न

से देखने पर उसे पता लगा कि यह भी जानदार सजीवसृष्टि है, जो हमारी दृष्टि शक्ति से बहुत परे है। इतनी सूक्ष्म सजीवसृष्टि को देख कर उसे बडा आश्चर्य हुआ। किसी व्यक्ति को जब कोई आश्चर्य की बात दिखाई दे जाती है तो उस तरफ उस की दिलचस्पी बढ जाती है। लुई पाश्चुर की उत्सुकता इस तरफ बढ़ गई, और बडी सावधानी से वह इनका निरीक्षण करने लगा। जिसका परिणाम यह हुआ कि उसको इस सूक्ष्म गति-शील संसार में एक नहीं अनेकों जाति की सूक्ष्म सजीव सृष्टि दिखाई दी। और खोज करते रहने पर कई वर्ष बाद यह पता लगा कि कई बीमारियां इन जन्तुओं के ही कारण से उत्पन्न होती हैं। उसका केवल ऐसा अनुमान ही नहीं था, प्रत्युत इस बातको उसने अपने प्रयोगों में देखा। **वह किस तरह देखा गया ?**—फ्रान्स के एक द्वीप में रेशम के कीड़ों में कोई बीमारी उत्पन्न हुई और वहां तमाम कीडों की फसल नष्ट हो गई, फ्रास की सरकार ने उस समय इनको योग्य समझ कर भेजा कि वह इसका कारण ढूँढकर बतलावें। आपने वहा जाकर जब रेशम के अण्डों का सूक्ष्म निरीक्षण किया तो आपको उन पर एक जाति के सूक्ष्म जन्तुओं का निवास मिला। उस को थोड़े ही दिनों में पता लग गया कि इन सूक्ष्म जन्तुओं के कारण ही सारे अण्डे रोगग्रसित हैं, इसी कारण अण्डों में से इल्लिया निकलते ही मरजाती हैं।

उसने सूक्ष्म जन्तु नाशक द्रव्यों का प्रयोग कुछ अण्डों पर किया और जब उन अंडों को भिन्न रखकर जन्तु रहित शुद्ध किया, तो उन से जो इल्लियां निकलीं सब स्वस्थ मिलीं। उस समय इस बातका ज्ञान होगया कि इन सूक्ष्मजन्तुओं के कारण ही इन अण्डों में यह विकार उत्पन्न होता है। कुछ दिन के और प्रयत्न से इस बात का निश्चय होगया कि कीड़ों को यह सूक्ष्म जन्तु जब लगते हैं तो उन्हें बीमार कर देते हैं, इसीसे रेशम के कीड़े मर जाते हैं। इन अण्डों में रोग के कारण का पता लगते ही उसने और भी—रोगी व्यक्तियों पर यह संशय करके—कि कहीं यही मनुष्यों

में भी रोगों के कारण तो नहीं ?–खोज किया तो उसको कई व्यक्तियों के शरीर में कई बीमारियों के सूक्ष्मजन्तुओं का पता लगा। इसके सम्बन्ध में ढूंढते ढूंढते उसे विद्वान् ने अनेकों व्याधियों के मूल कारण का **जैव सिद्धान्त** नामक सिद्धान्त स्थिर कर बतलाया कि अनेक रोगों के यह जन्तु ही कारण हैं। और १८८३ ईसवी में जाकर उसने बतलाया कि मन्थरज्वर भी एक प्रकार के कीटाणुओं से उत्पन्न होता है। जिस समय मन्थर के कीटाणुओंका अविष्कार हुआ उस दिन से इस रोग की वास्तविक स्थिति का संसारको ज्ञान हुआ।

## इसका ज्ञान उसको किस तरह हुआ ?

जिस तरह रेशम के कीडों में रोग उत्पन्न होने के समय इसको अनुसन्धान के लिये भेजा गया था, उसी तरह फ्रांस के एक प्रान्त में मन्थर का प्रकोप बढने पर वहां भी अनुसन्धान के लिये भेजा गया। वहां जाकर इसने अनुसन्धान करके बताया कि इस व्याधि का कारण भी कीटाणु है। जिसका नाम उसने ( Typhoid baicilli ) टाईफाइड वैसील रक्खा।

कई वैद्य उक्त ऐतिहासिक प्रमाण को पढकर शायद यह कहने लगें कि मालूम होता है लेखक डाक्टरी सिद्धान्तानुसार उक्त व्याधि का वर्णन करने चला है। वैद्य वरो ! यह बात नहीं। आप इस बात को कभी न भूलो कि सच्चाई किसी एक देश व जाति की सम्पत्ति नहीं, न किसी सम्प्रदाय का उसपर दायित्व है। प्रकृत प्रदत्त पदार्थ को प्राप्त करने का अधिकार मानवमात्र को है, जो व्यक्ति प्राप्त करले और उसकी सच्चाई को बतला दे, उस सच्चाई को देखकर मानना मानवमात्र का धर्म है, क्योंकि '**सत्ये नास्ति भयं क्वचित्**' सच्चाई में भय नहीं। जो व्यक्ति सच्चाई को देखकर नहीं मानते, अपने दुराग्रह से संसार में असत्य स्थिति को बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं, वह स्वयम् वास्तविक धर्म से भ्रष्ट होकर औरों को भी धर्म भ्रष्ट करते हैं। अब तो वह समय नहीं रहा कि प्रयोगों के

लिये बड़ी कठिनता होती हो, प्रत्युत वह समय आ गया है कि प्रत्येक बातों पर बड़ी सरलता से प्रयोग किये जा सकते हैं तथा प्रत्येक प्रयोगों की सच्चाई को घर बैठे देखा जा सकता है। ऐसी अवस्था में संसार का कोई भी पुरुष ऐसा नहीं जो स्वयम् परीक्षा न कर सकता हो। फिर सच्चाई को देखना और न मानना, इससे बढ़कर अनीति और अन्याय व अधर्म कौन सा हो सकता है। इससे भिन्न यदि हम सूक्ष्म जन्तुवाद को मान लें तो हम डाक्टरी या एलोपैथी सिद्धान्त को मानने वाले नहीं बन सकते। क्योंकि, सूक्ष्म-जन्तुवाद कोई एलोपैथी उपज या एलोपैथी सिद्धान्त नहीं। प्रत्युत वैज्ञानिक आविष्कार है। आप यह जानकर हैरान होंगे कि लूई-पाश्चुर कोई डाक्टर न था, न उसने किसी डाक्टर के घर जन्म लिया था, प्रत्युत इसका पिता चमड़े का व्यवसायी था, पाश्चुर भौतिक विज्ञान में पढ़ते २ उसकी प्रवृत्ति रसायन-शास्त्र में हो गई और उसको रसायन-शास्त्र के अध्ययन से आनन्द मिलने लगा, इसी प्रयत्न में उसको सूक्ष्म जन्तुओं का पता लगगया, जिससे वह इसका आविष्कारक माना जाकर संसार प्रसिद्ध हुआ। उसने केवल सूक्ष्म जन्तुवाद को ही जन्म नहीं दिया, प्रत्युत आगे चलकर इतना बड़ा रसायनिक पण्डित हो गया कि उसने इन सूक्ष्म जन्तुओं का नाश करने वाले अनेक रसायनिक पदार्थ तय्यार किये। और सर्व प्रथम सूची वेधन चिकित्सा को उसी ने जन्म दिया। जिसको डाक्टरों ने शीघ्र ही अपना लिया और आज यह एलोपैथिक की प्रधान चिकित्सा में से एक मानी जाती है।

सूक्ष्म दर्शक यन्त्र से सूक्ष्म जन्तु किस तरह देखे गये? तथा उनके विभेद किस तरह मालूम किये गये? इस विषय को हम यहां पर अच्छी तरह से बतलाते, किन्तु न तो यह इस पुस्तक का मुख्य विषय है न इस छोटीसी पुस्तक में स्थान ही है। खैर जिस सच्चाई को विदेशी चिकित्सक अपना सकते हैं और उससे लाभ उठा सकते है, तो क्या कारण है कि हम इससे लाभ न उठावें। क्या हम इसके अधिकारी नहीं? हम

देखते हैं कि हमारा शास्त्र तो हमें सदा से यह आज्ञा देता चला आ रहा है कि जहां कहीं भी सच्चाई मिले प्राप्त करलो और उसको अपना लो। इसी सिद्धान्त पर हम इस जीवाणु या कीटाणु वाद को अपनाते हैं। और आगे हम इसको रोगों का प्रधान कारण मानकर इस विषय की स्वतन्त्र व्याख्या करेंगे।

---

## जैवों की आकृति व भेद।

अब तक जितने भी जीवाणु व कीटाणु व्याधियों के कारण मालूम किये गये हैं उन सबका शरीर एक-कोषी होने पर भी उनके शरीर की बनावट एक सी नहीं होती। जिस तरह एक ही मनुष्य-जाति काली, गोरी, ताम्र, पीत अनेक वर्ण वाली देखी जाती है तथा एक जाति के मनुष्य कोई ठिंगने, कोई लम्बे, कोई मोटे, कोई पतले अनेक आकृति के होते हैं। शरीर की वाह्य बनावट में भी अन्तर देखा जाता है, ठीक इसी तरह इस एक कोषी संसार का हाल है। इस सजीव संसार में भी अनेक वर्णाकृति के यह सजीव समूह दिखाई देते हैं। हर एक जाति के जीवाणु व कीटाणुओं की शरीर रचना भिन्न २ है। जिस तरह इन जीवाणु व कीटाणुओं की शरीर रचना भिन्न २ है उसी तरह इनका खाद्य भी भिन्न २ है। कोई मिट्टी के पदार्थों पर गुजारा करते हैं, कोई जल के पदार्थों पर, कोई पशु, पक्षियों, वनस्पतियों के मृत शरीर, फुजुला, कूडा आदि पर, कोई पशु पक्षी मनुष्य आदि के सजीव शरीर पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इन अनेकों प्रकार के पदार्थों पर गुजारा करने वालों में से मन्थर-ज्वर के कारण भी सजीवों पर गुजारा करने वाले एक सजीव प्राणी हैं। जो जैव सजीव प्राणियों पर गुजारा करते हैं उनको परोपजीवी कहते हैं। हम यहां पर और जाति के जीवाणुओं कीटाणुओं का वर्णन छोड़कर केवल परोपजीवी जाति के ही जीवाणु कीटाणुओं का

वर्णन करेंगे। क्योंकि यही प्रायः बड़ी २ बीमारियों के कारण ज्ञात हुए हैं। हम आगे प्रत्येक प्रकार के जीवाणुओं कीटाणुओं को जैव नाम से सम्बोधित करेंगे, क्योंकि यह नाम जीवाणु कीटाणु दोनों का बोधक है।

**भेद**—जिस तरह संसार में सजीव सृष्टि के स्थावर और जगम दो बड़े प्रधान वर्ग दिखाई देते हैं, ठीक इसी तरह इन एक कोषी प्राणियों के भी दो ही प्रधान वर्ग दिखाई पड़ते हैं। जिस को देखकर विद्वानों ने निश्चय किया है कि यह सजीव ससार जो अनेक कोष मयी शरीर का है, इन्हीं एक कोप मय शरीर धारियों का सुसंगठित व परिविस्तृत रूप है। इसीलिये, इन को आदि प्राणि या आदि जैव कहा है। क्योंकि, जिन को जीवाणु कहा जाता है वह वास्तव में जगम वर्ग के आदि वशी हैं, जो कीटाणु नाम धारी हैं वह स्थावर वर्ग के आदि वंशी हैं। इसीलिये वर्गों के निराकरण व रचना रूप पर इनका जीवाणु व कीटाणु नाम दिया गया है। यद्यपि इन दोनों वर्गों के आदि जैव अपनी शारीरिक बनावट एक कोप-मयी रखते हैं, तथापि उनकी रूपा कृति में अन्तर हैं।

**विभेद**—जितने भी स्थावर जगम वर्ग के आदि जैव हैं सब की शारीरिक रचनाओं का विभेद किया जाय तो, वह स्थूल रूप से तीन श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। ( १ ) विन्द्वाकृति ( २ ) शलाकाकृति ( ३ ) वक्राकृति। इन में से प्रत्येक की आकृतिया में भी विभिन्नता है, यथा विन्द्वाकृति मे कोई छोटे विन्दुवत् कोई बड़े विन्दुवत् कोई चिपटे, कोई गोल कोई बेडौल विन्दुवत् देखे जाते हैं। इसी तरह शलाकाकृति में लम्बी, पतली, नोकदार, चौरस, बेढंगी लम्बी, चिपटी-लम्बी आदि अनेकों रूपाकृति हैं। इसी तरह वक्राकृति में चन्द्रकार, अर्ध चन्द्रकार कुडलाकार कर्णय्याकार आदि रूप दिखाई देते हैं, जिन को देखकर श्रेणियों में से उन की जाति पहिचानी जाती है। वास्तव में इन की यह शारीरिक बनावट ही इन के जाति की द्योतक है।

## मन्थर ज्वर के कीटाणुओं का वर्ग, श्रेणी व जाति—

उक्त आदि प्राणियों में से हमारे मन्थर ज्वर के कीटाणु स्थावर वर्ग के हैं, और इन की शारीरिक वनावट शलाका कृति श्रेणी की है। जिस में से मकरा कृति शलाका इन की जाति कहलाती है। अर्थात्-इन की शारीरिक वनावट शलाका कृति है और उस शलाका में चारों ओर मकडी के हाथ पैर वत् तन्तु जाल निकले हुए होते हैं। इस से इन के मकडी के हाथ पैर वत् चारों ओर तन्तु फैले होने से मकडा-कृति-शलाका कहा गया है।

देखो चित्र नं० १

यह चित्र असली रूप से १५०० सौ गुना वढाकर दिखाया गया है। यही कीटाणु मन्थर नामक ज्वर उत्पन्न करने में मूल कारण है। जव तक यह मनुष्य के शरीर में प्रवेश नहीं करते मन्थर ज्वर नहीं होता, इन के शरीर में पहुंच कर वढ़ने व विष उत्पन्न करने से ही मन्थर ज्वर का प्रादुर्भाव होता है।

---

# सञ्चारी और असञ्चारी व्याधियां।

व्याधिया दो तरह की हैं, एक साधारण दूसरी असाधारण या विशेष। सिर दर्द, पेट दर्द, अतिसार, वमन, अजीर्ण, साधारण ज्वर, सर्वांग-पीड़ा इत्यादि अनेकों साधारण व्याधियां हैं। विषम ज्वर ( Malarioues Fevers ) फुफ्फुसप्रदाह ( Pnevmonia ) क्षय—ज्वर ( Tuberculosis ) कुष्ठ (Leprosy) कुक्कुरकास ( Whooping cough ) सन्धिवात (Gout)

## सञ्चारी और असञ्चारी व्याधियां।

फिरंग, सुजाक इत्यादि अनेकों व्याधियां असाधारण या विशेष हैं। साधारण व्याधियां तो देश, काल, जल, वायु-विकार, व खान पान के कुपथ्य से होती हैं, किन्तु विशेष या असाधारण व्याधियां उक्त कारणों से नहीं होतीं। इन के कारण जीवाणु, या कीटाणु हैं। फुफ्फुस-प्रदाह के कीटाणु जब तक शरीर में न पहुंचेंगे कभी फुफ्फुस-प्रदाह न होगा। बहुत से व्यक्तियों की धारणा है कि जरा सी सर्दी फेफड़ों को लग जावे तो न्यूमोनिया हो सकता है, यह धारणा गलत है। सर्दी लगने से फुफ्फुस अकड़ सकते हैं, रक्त-सञ्चार बन्द हो सकता है, विशेष शीत लग जाने पर फुफ्फुस क्रिया हीन हो सकते हैं, उन की कार्य-विधि में बाधा पड़ सकती है, किन्तु, न्यूमोनिया नहीं हो सकता। न्यूमोनिया या फुफ्फुस-प्रदाह अपने कारण से ही होगा। यह तो अब अच्छी तरह अनुभव के पश्चात् सिद्धान्त बन चुका है कि जैव जन्य व्याधियां बिना जैवों की उपस्थिति के हो नहीं सकतीं।

हां! यह बात मानने के योग्य है कि खाद्य, पेय, वस्तुएं जल, वायु, और धूल-कण यह सब जैवों के वाहक हैं। इन के द्वारा उक्त जैव सस्पर्श से सञ्चारित होते रहते हैं, किन्तु उक्त खाद्य पेयादि को विशेष व्याधियों का कारण मानना भूल है। हां यह मानना कुछ हद तक ठीक है कि खाद्य, पेय विकार केवल व्याधि जैवों को मनुष्य तक पहुंचाने का ही काम नहीं करते, प्रत्युत देश, काल, जल, वायु ऋतु प्रभाव व खाद्य, पेय विकार उन के बढ़ने में सहायता भी करते हैं।

यदि शरीर में खाद्य पेयोद्भव विकार विद्यमान न हो, और शरीर परिस्थिति प्रभाव से जर्जरित न हुआ हो, तो व्याधि कारक जैवों के लिये शरीर में स्थिर होकर बढ़ना कठिन हो जाता है, शुद्ध-शरीर व्याधि-कारक जैवों को शमन करने में समर्थ रहता है, कोई भी व्याधि कारक जैव शरीर में पहुंच

जाँय, मार डाले जाते हैं। परन्तु जब शरीर अनेक प्रकार के उदर जन्य* विकारों से लदा हो और शरीर अवयव इसके कारण निर्बल हो रहे हों या कष्ट में पड़े हों उस अवस्था में व्याधि जनक जीव शरीर पर अपना प्रभाव शीघ्र ही डाल लेते हैं, और अपनी स्थिति दृढ़ करने में समर्थ हो जाते हैं। इसी से व्याधि शीघ्र उत्पन्न हो जाती या बढ़ जाती है। और उक्त कारणों का अभाव हो तो व्याधि उत्पन्न होने तक की नौबत ही नहीं आती। शरीर बिना किसी औषध या वाह्य सहायता के अपना उपचार स्वयम् कर लेता है। जिस शक्ति से मनुष्य के शरीरावयव शत्रु से अपनी सदा रक्षा करते रहते हैं उस शक्ति को शरीर की विजय-वाहनी-शक्ति कहते हैं। आप कहेंगे कि हमें तो दिखाई नहीं देता कि शरीर में भी ऐसी कोई शक्ति विद्यमान है जो किसी वाह्य साधन के सिवा शरीर का संरक्षण करती है। न हमें यह दिखाई देता है कि ऐसे कोई व्यवहार हैं जो स्वयम् ही शरीर में होते हों। यह बात नहीं। आप देखते हैं कि शरीर में हृदय और फुफ्फुस की गति जिस तरह बिना किसी प्रयत्न के आप ही आप होती रहती है, और इच्छा करने पर भी घटाई बढ़ाई नहीं जा सकती; शरीर के पाचक यन्त्र भुक्त पदार्थों के भीतर पहुंचते ही बिना किसी प्रयत्न के उस पर पाचक रस छोड़ने लग जाते हैं, जिस से वह खाद्य पदार्थ पच-कर शरीर योग्य बन जाता है, पश्चात् मलेन्द्रियां जो मल बनता है उसको बाहर निकाल फेंकती हैं। यह काम शरीर अपनी जीवन सत्ता को बनाये रखने के लिये बिना किसी प्रेरणा के जिस तरह समष्टि रूप से स्वयम् करता रहता है, ठीक इसी तरह व्यष्टि रूप से शरीर के एक २ अवयव भी अपनी जीवन सत्ता को स्थिर बनाये रखने के लिये अपना २ जीवन प्रबन्ध व संरक्षण

---

* इसका वर्णन अगले परिच्छेद में होगा।

स्वयम् आप करते रहते हैं। जो प्राणी व्यष्टि रूप या समष्टि रूप से अपना संरक्षण स्वयम् नहीं कर सकते, और समय आने पर कोई बचाव की सूरत नहीं निकाल सकते, उनका संसार में अस्तित्व कठिन ही नहीं असम्भव है।

---

# शरीर में विजयवाहनी शक्ति व व्याधि-सम्बन्ध।
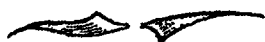
कोई भी व्यक्ति यह न निश्चय कर बैठे कि मनुष्य का बुद्धि विशिष्ट सुव्यवस्थित शरीर किसी ऐसे कुशल कारीगर का कौशल हो सकता है जिसने प्रथम ही इसको ऐसा सोच कर बनाया हो, यह बात नहीं। यदि धार्मिक विचारों को जरा दूर रख कर कोई व्यक्ति संसार में अपनी स्थिति को ढूंढेगा तो उसको दिखाई देगा कि मेरी स्थिति सांसारिक पशु-योनि या जगम श्रेणी से बाहर नहीं। और उसे खोज करने पर ज्ञात हो जायगा कि मेरी यह विकसित बुद्धि तथा सुधरा हुआ शारीरिक ढांचा प्रकृत-माता के गोद में अधिक काल तक पलते रहने से प्राप्त हुआ हैं। जिसकी प्राप्ति में मुख्य सहायक कारण मातृ भक्ति ( अनुकूल= Adaptation ) व आज्ञापालन ( परिवर्तन Variation ) रहा है। और इस में उसकी सहायता उस के सुसस्कार करते रहे हैं, जिसने इसको संकटमय परिस्थिति से बचने का परिज्ञान कराया तथा इसको इतना विशेषज्ञ बना दिया कि आज यह अपने अस्तित्व को भी भूल बैठा है।

आप देखते हैं कि जिस तरह वृक्ष का बीज भूमि पर पड़ते ही अनुकूल परिस्थिति पाकर अंकुरित हो जाता है, और उस अकुर से अनेक शाखों, प्रशाखों वाला अनन्त पल्लव, पुष्प, वेष्ठित वृक्ष बन जाता है। ठीक इसी तरह आदि काल में मानव-प्राणी ने भी छोटे से एक कोषी शरीर से अनेक कोषों वाले अंग, उपाङ्ग

युक्त इस वृहदाकार सुधरे शरीर को प्राप्त किया; तथा अपने में अनेकों परिवर्तन लाकर ऐसा सुसंगठित बना सका है जिसका वर्णन यहां करना कठिन है। हां यदि इस विषय को अधिक देखना चाहते हैं तो आप हमारे लिखे सृष्टि-विज्ञान नामक ग्रन्थ में देखें।

उक्त पंक्तियों को पढ़ कर कोई व्यक्ति यह अनुमान न निकाल लें कि पूर्व काल में मनुष्य का यह सुव्यवस्थित देह प्रकृत में उसी तरह कुछ वर्षों में ही शीघ्र बन गई होगी, जिस तरह देखते २ बीज से वृक्ष बन जाता है; यह बात नहीं। बीज से वृक्ष का बनना, बीज में वृक्ष के संस्कारों की विद्यमानता होती है, जिस तरह मनुष्य वीर्य से मनुष्य शरीर के बनने का क्रम। क्योंकि, इस दशा में संस्कार उस को बिना राह भटके अपनी पैत्रिक अवस्था तक पहुंचा देते हैं। सजातीय प्राणियों से सजातीय प्राणियों में यह बात लागू हो सकती है; पर जहां किसी प्राणि को एक कक्षा से दूसरी कक्षा में जाना हो, एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में पहुंचना हो, एक रुप से दूसरे रुप में बदलना हो, और जिस के पैत्रिक सस्कार भी क्रमयुक्त विद्यमान नहीं, उस अवस्था में उक्त नियम लागू नहीं हो सकता। न इसकी इस उन्नति का समय ही निर्द्धारित किया जा सकता है। मनुष्य से मनुष्य की उत्पत्ति का क्रम व समय हो सकता है। पर, एक छोटे से संस्कार हीन बीज (जीव-कोष) से अनन्त सजीव कोष वाले सांगोंपाङ्ग मनुष्य शरीर तक बढ़ कर समुन्नत होना या पहुंचना, जहां कोई पथ प्रदर्शक नहीं, कभी परीस्थिति अनुकूल जाति हो, कभी प्रतिकूल। पद २ पर संकटापन्न अवस्था का सामना करना पड़ता हो, उस अवस्था में इस के लिये कितना समय चाहिये ठीक २ बतलाया जा नहीं सकता। हां इतना सब विज्ञानवादी स्वीकार करते हैं कि इसकी अवधि एक दो नहीं वल्के कई मन्वन्तर हो सकती है। खैर! इस पीछे की बात को जाने दीजिये, इस समय मनुष्य कितना बलवान् व बुद्धिमान् प्राणी माना जाता है कि

बड़े२ भयंकर हिंसक पशुओं तक को काबू कर लेता है। किन्तु, देखो ! इस रोगरूप भयकर हिंसकों तक इसकी बुद्धि ही न पहुची। अनन्त कालसे यह महान् शत्रु मनुष्य का संघार करते चले आरहे हैं, पर इनमे बचने का कोई निश्चित मार्ग न अबतक निकल सका; न शीघ्र निकलने की आशा है। जब यह अवस्था इस समय है तो इससे पूर्व जब कि यह अधिक वन्यावस्था में था, चिकित्सा-क्रम नाममात्र को था, क्या दशा रही होगी, उस समय तो इसके अस्तित्व का बना रहना कठिन हो सकता है। क्योंकि, यह कीटाणु, या जीवाणु आधुनिक युग की उपज नहीं, इनका परिज्ञान आधुनिक अवश्य है। जब इनकी स्थिति को कोई पूर्वकाल में जानता ही नहीं था, तो इन के निवारण का उपाय किस तरह जानता होगा, यह सन्देहास्पद है। परन्तु इस संदेह का निवारण कठिन नहीं। संसार में मनुष्य को ही व्याधियां नहीं होती, प्रत्युत जितने भी सजीव प्राणि हैं सब बीमार पड़ते हैं। और यह भी आप देखते हैं कि उनको कोई भी बाह्योपचार का ज्ञान नहीं, पर वह बीमार होकर सब मर नहीं जाते, प्रत्युत राजी होते भी देखे जाते हैं; इसी तरह मनुष्य का भी पूर्वकाल में हाल था।

इस में कोई संशय नहीं कि मनुष्य के वैकासिक जीवन से यह स्पष्ट होता है कि पूर्व काल में इसको बाह्य चिकित्सा या कृत्रिम-उपचार का ज्ञान नहीं था, परन्तु परीक्षाओं से पता लगता है कि इसके पास स्वभाविक या प्रकृत प्रदत्त उपचार क्रम इतना बलवान् था कि जिसकी शक्ति से यह अपने को सदा बचाता चला आ रहा है। इस समय हम सब तो पेटदर्द होने पर चूर्ण बना कर खा लेते हैं, ज्वर होने पर डाक्टर से ज्वर की औषध ले आते हैं पर पशु, या पक्षी बीमार होते हैं तो उन्हें चूर्ण या कुनइन की गोलिया नहीं मिलतीं। कई कहेंगे कि जब पशु, पक्षियों को कोई बीमारी होती है तो उनको चिकित्सा का कोई ज्ञान न होने के कारण, उनका

जीवन, मरण ईश्वर के हाथ में होता है, यह बात नहीं। परीक्षाओं से पता लगता है कि जब पशु, पक्षी बीमार होते हैं तो उनके शरीर में ही किसी बाह्य साधन के बिना स्वभाविक औषध-निर्म्माण का क्रम आरम्भ हो जाता है। जहा शरीर में औषध निर्म्माण में सफलता मिली, शरीर रक्षण बल बढ़ा उसकी वृद्धि का प्रभाव रोगकारक शक्ति व रोगाणुओं पर ऐसा पड़ता है कि वह नष्ट होने लग जाता है, और उधर वह प्राणी राजी होने लग जाता है। यह शक्ति केवल पशु पक्षियों में ही नहीं मनुष्यों में भी है। और बहुधा व्याधि काल में देखी जाती है।

यद्यपि कृत्रिम उपाय से हम इसकी ही सहायता करते हैं, तथापि हमारी आन्तरिक संरक्षणीय शक्ति ही हमारी सहायता करती है, औषध वास्तव में औषध हमारी सहायता कुछ नहीं करती। जिस तरह युद्ध भूमि में किसी योद्धा को उस को गोला बारुद से सहायता करने वाले सदा सहायता करते रहते हैं और वह योद्धा सहायता पाकर खूब लड़ता रहता है। यदि योद्धा अकस्मात् घायल होकर निष्क्रिय हो जाय और उस के सहायक युद्ध सामान देने में प्रयत्न शील भी हों, तो भी उस समय भारी से भारी अस्त्र शस्त्र उस की सहायता नहीं कर सकते, वह मारा जाता है। ठीक यही दशा हमारे शरीर में बाह्योपचार की है। बहुत बार अच्छी से अच्छी विस्वास प्रद औषध कुछ काम नहीं देती। इस का कारण यही होता है कि शरीरावयव उसको ग्रहण करने में इतने असमर्थ हो जाते हैं, किसी तरह भी उसे उपयोग में नहीं ला सकते। इसी लिये मृत्यु हो जाती है। यदि शरीरावयव बलवान् हों, उन में कार्य शीलता हो, युद्ध विधा और स्वभाविक औषध-निर्म्माण में कुशलता हो तो, जिस तरह कुशल लड़ाका समय पड़ने पर अपने को बिना शस्त्र के शत्रु से बचा लेता है और संभल कर

शत्रु से युद्ध में लड़ने का कोई न कोई साधन प्राप्त कर लेता है। ठीक इसी तरह जिन के पास कोई औषध नहीं, बलवान् होने के कारण उन के शरीर के अवयव स्वभाविक ही इतने युद्ध कुशल रहते हैं, कि शत्रु के आने पर अपनी रक्षा स्वयम् कर लेते हैं। इसी से अब तक ऐसे प्राणियों का संसार में अस्तित्व बना हुआ है। मानव प्राणी में भी यह शक्ति है, और पूर्व काल में जब कि इस को वाह्योपचार का कोई ज्ञान न था, यही बलवान् थी; उस समय यह शक्ति ही इसको अनेकों संकटमय अवस्था से बचाती चली आई है, और अब भी बचा रही है।

परीक्षाओं से ज्ञात हुआ है, कि जब किसी व्यक्ति पर व्याधि जनक जन्तुओं का आक्रमण होता है, तो शत्रुओं के शरीर में पहुंचते ही उस समय समग्र शरीरावयवों तक तड़ित् वाही विद्युत समाचारवत् इस की खबर मस्तिष्क को पहुंचा देते हैं, कि कोई शत्रु शरीर में घुस आया है। जिस तरह रणस्थली में विद्यमान शान्त-सेना में युद्ध का समाचार पहुंचते ही हलचल मच जाती है। ठीक इसी तरह शरीर में भी एक विचित्र हलचल मच जाती है। और शत्रु की खबर लेने वाले चट रक्त प्रवाह के साथ २ चारों ओर वेग से दौड़ने लग जाते हैं, जहां पर शत्रु मिल जाता है, वहीं उस को घेर कर मार डालने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु क्या वह एकाएक मार डाले जाते हैं? ऐसा नहीं। चोर डाकू यद्यपि मनुष्य ही होते हैं, पर उनका बल उनका, हौसला ही तो है जो दूसरों की सम्पत्ति अपहरण करने में समर्थ हो जाते हैं। आप देखते नहीं कि वह निर्भय होकर तुल्य व बलवान व्यक्ति तक को लूट लेते हैं। यही अवस्था शरीरावयवों के साथ व्याधि-जनक जैवों की होती है। व्याधि जनक जैव भी एक तरह के चोर, डाकू हैं, जो हमारे शरीरावयवों को मार कर अपनी उदर पूर्ति करना चाहते हैं। पर ससार में ऐसा कौन प्राणी है जो

अपने आप मरने के लिये तय्यार हो, इसी लिये प्रत्येक व्यक्ति अपने बचाव की चेष्टा करता है, जिस का नाम संरक्षण है। जिस तरह हमारे शरीरावयव शत्रु से युद्ध लेते हुए अपने को बचाने का प्रयत्न करते हैं ठीक इसी तरह जैवों की ओर से भी अपने बचाव का प्रयत्न होता है। और साधन लिया गया तो शरीर का विध्वन्स भी करने लग जाते हैं।

## जीवन-संग्राम में व्याधि का स्थान व रक्षाक्रम।

इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिये कि मनुष्य शरीर समष्टि रूप से ही जीव मय है, प्रत्युत व्यष्टि रूप से भी जीव मय है। शरीर के अस्थि, मांस, स्नायु, धमनि, हृदय, फुफ्फुस, रक्त, त्वचा, केश, नख आदि जितने भी शरीर के अंग प्रत्यग हैं सब छोटे २ सजीव कोषों के समूह हैं। जिस तरह शरीर समष्टि रूप से अपना जीवन व्यापार चलाता है उसी तरह यह भी व्यष्टि रूप से अपना जीवन व्यापार चलाते रहते हैं, और शरीर के विवर्द्धन क्रम में इन्हीं की वृद्धि होती हैं। किन्तु इन जीव-कोषों का जीवन क्षण भंगुर होता है, अनेक इन में से नित्य मरते और उस मृत जीव-कोष के स्थान में नये बनकर तय्यार होते रहते हैं। यद्यपि इनके इस तरह के जीवन मरण का हमको कोई ज्ञान नहीं होता, न इस तरह की साधारण नैत्यिक मृत्यु से शरीर को कोई हानि पहुंचती है। परन्तु किसी समय कोई व्याधि-जन्तु के जैव जब शरीर में घुसकर इन सजीव अवयवों को अपना खाद्य बनाना चाहते हैं और इनको खाने के लिये उन्हें मारने का प्रयत्न करते हैं उस समय शरीर को हानि पहुंचती है। उस समय हमको ज्ञान होता है कि हमारे शरीर में कोई

उपद्रव उत्पन्न हो गया है। आप देखते हैं कि हम सब अपनी उदर पूर्त्ति के लिये जो कुछ भी मिल जाता है; पशु, पक्षी व वानस्पतिक अंगों से जो प्राप्त हो जाता है, उनको खाते हैं; जब तक हम ऐसा न करें हमारा जीवन चल नहीं सकता। शरीर को जीवन युक्त बनाये रखने के लिये हमें किसी न किसी सजीव पदार्थ को खाना ही पड़ता है। इसी तरह संसार के और सजीव-जगत् की अवस्था है। जंगम वर्ग को छोड़कर समग्र स्थावर वर्ग भी परोपजीवी है। अर्थात् दूसरे प्राणियों के शरीर पर ही इनका गुजारा है। इसीलिये संसार में प्रत्येक प्राणी को अपने जीवन के लिये दूसरे प्राणियों से संघर्ष लेना पड़ता है, ऐसे समय छोटे२ निर्बल जीवों को तो हर एक मार कर खा जाते हैं, पर कई बराबर वाले बराबर वालों तक को नहीं छोड़ते, दाव लगते ही बलवानों तक को खा जाते हैं। जिस तरह एक प्राणि दूसरे प्राणि को अपना भोजन समझते हैं, उसी तरह कीटाणु व जीवाणु भी मनुष्य शरीर को अपना भोजन समझते हैं, इसी लिये वह हमारे शरीर पर आक्रमित होते हैं। जिस समय यह सूक्ष्म जैव शरीर में प्रवेश करके शरीरावयवों को खाने की चेष्टा करते हैं ऐसे समय कौन ऐसा जीव है जो अपना शरीर दूसरों को खाने के लिये समर्पण कर देगा। इसीलिए तो दोनों ओर की सजीव-शक्तियों में सामुख्य होता है। जहा पर एक ओर से नष्ट करने और दूसरी ओर से बचाने का क्रम जारी होता हो ऐसी अवस्था का संग्राम या युद्ध का नाम दिया जाता है, चाहे वह शरीर के बाहर हो या भीतर।

---

## जीवन युद्ध व अस्त्र शस्त्र (विष प्रतिविष)।

जिस समय शरीर में व्याधि जनक जैवों से संग्राम होता है उस समय

1336

केवल द्वन्द युद्ध ही नहीं होता, प्रत्युत जिस तरह हम सब गोला, वारूद, हवाई वमों द्वारा दूर २ की लडाई लडते हैं, उसी तरह की क्रिया इन शत्रुओं से शरीर के भीतर होती है। हर एक शत्रु के पास भिन्न २ प्रकार के दूर २ तक मार करने वाले गुप्त शस्त्र होते हैं। जिस तरह चोर, डाकू घर में घुसते ही अपने शस्त्रों द्वारा मार धाड़ मचा देते हैं और इसी प्रयत्न में रहते हैं कि घर वालों को संभलने ही न दिया जाय। ठीक इसी तरह यह जैव भी शरीर में घुसते ही धाड़ मार मचा देते हैं। और अपने प्रवल अस्त्रों शस्त्रों का प्रहार वडी तेजी से करने लग जाते हैं। जैवों का अस्त्र शस्त्र एक प्रकार का विष होता है, जो शरीर में पहुंचकर वनने लगता है। यह विष प्रत्येक व्याधि जनक जन्तुओं में भिन्न २ प्रकार का होता है। जिस समय रोग जन्तु शरीर में प्रवेश करते हैं कुछ न कुछ विष उस समय ही यह अपने वचाव के लिये शरीर में छोडते हैं और अपने को शरीरावयवों से वचाते हुए केन्द्र की ओर वढ़ते जाते हैं। यह विष किसी २ व्याधि जनक जैवों का इतना उग्र होता है कि संखिया, सर्प विष जैसी मारक शक्ति रखता है। जिन रोगकारक जैवों का यह विष वलवान् होता है उसका निवारण कठिन हो जाता है, उस समय शरीरावयव घवरा जाते हैं और अनेक मूर्छित व मृत होने लग जाते हैं। इसी से जैव उनको मारते, खाते हुए प्रवल होकर अपने केन्द्र की ओर वढते जाते हैं। जहा पहुंच कर प्रवल विकृति उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं। इसी से रोग ( दुःख = वेदना) का रूप शोथ, दाहादि उत्पन्न हो जाते हैं। जिस समय व्याधि जन्तुओं से रोग उत्पन्न हो जाता है, शरीरावयव पराजित होते जाते हैं, उस समय शरीर रक्षक युद्ध भूमि छोड कर भाग नहीं जाते। प्रत्युत रोग उत्पन्न होने पर भी अर्थात् जैव व जैव-विष के शरीर में वढ़ने पर भी जव तक उन शरीरावयवों में शक्ति रहती है उनका सामुख्य लेते रहते हैं, और इस सामुख्य में यह प्रयत्न वना

रहता कि ऐसा प्रतिविष बनाया जाय जो जैवजन्य विष को नष्ट करने में समर्थ हो। यदि शरीरावयवों या शरीर रक्षकों को ऐसे समय सफलता मिल जाय तो शरीरावयव व्याधि जनक विष व जन्तुओं पर विजय पा लेते हैं, यदि असफल रहें तो लड़ते हुए सदा के लिये अपने को मिटा देते हैं।

## सफलता और प्रति विष

शत्रु से एक वार मुकावला होने पर यदि शत्रु को जीत लिया जाय तो उससे पुनः लड़ने का साहस हो जाता है और युद्ध कौशल सदा के लिये बना रहता है। इसी तरह व्याधि में होता है। एक वार जिस व्याधि जनक जैवों पर विजय पा लिया जाय उनका निवारण कठिन नहीं होता। क्योंकि जिसका हम एक वार मुकावला कर चुके हैं उस के दाँव, पेच, अस्त्र, शस्त्र से अच्छी तरह परिचित होगये हैं। इसीलिए जिन शस्त्रों ( विषों ) का वह उपयोग करता है उस का निवारण शीघ्र कर लेते हैं। जिस समय विष बनने लगता है, जानकारी के कारण उस के कुछ समय बाद ही प्रति विष बनने लग जाता है। तभी तो मन्थर, सीतला, प्लेग आदि कई व्याधिया एक वार होकर दूसरी बार होती ही नहीं। यदि हो भी जाय तो मारक सिद्ध नहीं होतीं। कारण? शरीर इनको एक वार परास्त कर चुका है और शरीर में इनको निवारण की विजयवाहनी शक्ति विद्यमान है। इसी से न तो यह उग्र रूप धारण कर पाती है, न मारक शक्ति। दूसरी वार इनका आगमन होने पर या तो रोग उत्पन्न होने से पूर्व ही दब जाता है या साधारण व्याधि वेग उत्पन्न होकर रह जाता है। इस तरह जैव विष को नष्ट करने की जो शक्ति शरीर में उत्पन्न होती है उसको **विजयवाहनी शक्ति** कहते हैं। और जो पदार्थ संरक्षणार्थ बनता है उसको प्रतिविष कहते हैं। जैसा जैवविष हो वैसा ही प्रतिविष उत्पन्न होता है। इसी से प्राणियों का जीवन अनन्त काल से बचता चला आया है। यदि यह शक्ति मनुष्य में

न होती तो किसी पदार्थ में यह शक्ति नहीं थी कि मानव-जीवन को इन अदृश्य शत्रुओं से बचा सकती। यह तो हुई स्थिर शक्ति की बात। परन्तु, जब कोई अज्ञात जैव शरीर पर आक्रमण कर बैठें, जिसके निवारण का ज्ञान शरीर को न हो, उस समय शरीरावयव क्या करते हैं? क्या उस समय अस्त्र शस्त्र खोजते हैं? हां!

आप कहेंगे कि शत्रु तो अपने अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित होकर धावा करता है, किन्तु उस समय शरीर की विजयवाहनी शक्ति अस्त्र-शस्त्र की तलाश में हो, यह बात क्या? क्योंकि, लड़ाई होरही हो उस समय अस्त्र, शस्त्र खोजना बुद्धिमानी नहीं। पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि शरीर पर एक ही प्रकार के शत्रुओं का आक्रमण तो होता नहीं, प्रत्युत अनेकों प्रकार के जैवों का आक्रमण होता ही रहता है, फिर सब जैव विष भी एक तरह के नहीं होते। क्योंकि उनके उत्पादक भिन्न२ जाति के जीवाणु हैं जबकि अनेकों प्रकार के शत्रु हों और सबके भिन्न२ अस्त्र शस्त्र हों तो ऐसी अवस्था में शरीर को सबका ज्ञान होना कोई साधारण बात नहीं। मनुष्य इतना विचार पूर्ण है वह अनेकों ऐसी युक्तियां शत्रु को मारने के लिये निकाल लेता है कि एकाएक उसका पता दूसरे मनुष्य नहीं लगता। जिस तरह जर्मन युद्ध में प्रथम २ विषाक्त गैसों का प्रयोग जर्मन ने करके शत्रु को चकित कर दिया था। आक्रमणकारी अस्त्र शस्त्र बना सकता है, किन्तु उन अस्त्रों शस्त्रोंसे बचने के लिये जबतक उसका ज्ञान न हो निवारण कठिन होता है। इसीलिये शरीर को उसकी तलाश करनी पड़ती है। यही समय रोग की वृद्धि का होता है।

---

# विजयवाहनी शक्ति के विकास व ह्रास का कारण
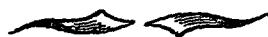
पीछे बतलाया जा चुका है कि प्राणियों में सरक्षणीय शक्ति का उत्पन्न होना उनकी क्षमता पर अवलम्बित है । और सरक्षणीय शक्ति का विकास व ह्रास प्राणियों की परिस्थिति-प्रभाव पर अवलम्बित है । अर्थात् इसका बढना व घटना नैतिक जीवन से सम्बन्धित है ।

इसका कारण ?—आप देखते हैं कि ससार में वही व्यक्ति विशेष करके फूलते फलते दिखाई देते हैं जो औरों के मुकाबले में अधिक योग्य होते हैं। यह योग्यता या क्षमता जो प्राणि जितनी अधिक प्राप्त कर लेता है वह उतना ही अधिक उन्नति कर जाता है। जिन प्राणियों का जीवन अधिक सुव्यवस्थित व सुखमय है, वह उतने ही अधिक क्षमतापूर्ण माने जाते हैं। मनुष्य ससार के सब प्राणियों में सक्षम गिना जाता है। क्योंकि, यही संसार के प्राणियों में योग्य व सब से अधिक सुखमय जीवन व्यतीत करने वाला प्राणी है। इसके मानसकेन्द्र में जो क्षमता वा योग्यता है वह ससार के किसी भी प्राणि में नहीं। कई व्यक्ति कहेंगे कि यदि ऐसा है तो मनुष्य को बीमार न होना चाहिये। जब इसमें प्रत्येक तरह की क्षमता है, तो रोग निवारण की भी क्षमता सब से अधिक होना चाहिये। परन्तु यह बात यहा पर उल्टी देखी जाती है। अर्थात् जितने अधिक रोग इसको लगे हुए हैं इतने ससार के किसी भी प्राणि को नहीं। दूसरे जितना यह रोगों के कारण दु:खी रहता है इतना दु:खी संसारका कोई भी प्राणी नहीं देखा जाता। इसका क्या कारण ? इस में कोई सशय नहीं कि पूर्व-काल में जब कि इस को कृत्रिम उपचार का ज्ञान नहीं था, उस समय इस की आन्तरिकशक्ति बलवान् थी। उस समय इसको एक भी सञ्चारी या असञ्चारी व्याधि छूती तक न थी, जो होती भी होगी वह आन्तरीय विजयनी

शक्ति द्वारा नष्ट कर डाली जाती थी। परन्तु, जबसे इसने कृत्रिक उपचार के साधन ढूँढे, अनेक तरह की औषधियां सेवन करने लगा, आत्मशक्ति का भरोसा छोड़ बैठा, तबसे इसकी आन्तरीया विजय-वाहनी-शक्ति का ह्रास होता चला गया है। जैसे२ इसने कृत्रिम चिकित्सा की ओर प्रवृत्ति की, बाह्यसाधन बढते गए, आत्म शक्ति पर से दृढ़ता उठती गई, वैसे ही वैसे उक्त आन्तरिक शक्तिया घटती चली गई। इसीलिये, आज इसकी यह दशा है कि एक२ व्याधि के अनेकों उपचार ज्ञात होने पर भी इसको वह बीमारी जीवन में एक बार ही नहीं प्रत्युत सैंकड़ों बार तक होती देखी जाती है। हम इस के कुछ प्रमाण देंगे—आप देखते हैं कि उपदंश सुजाक, विषमज्वर, न्यूमोनिया, मन्थर ज्वर, प्रवाहिका, कुष्ट आदि अनेकों बीमारिया मनुष्य को तो होती हैं पर पशु, पक्षियों को नहीं होतीं। दूर क्या मनुष्य के समीपी बन्दर वनमानुष ( गोरीला चिंपाँझी ओरांग ओटांग ) आदि तक को भी सिवाय साधारण दो चार व्याधियों के और एक भी प्रबल व्याधि होते नहीं देखी जाती। वास्तव में देखा जाय तो जिस देश काल परिस्थिति में हम हैं, उसी से मिलती जुलती या वैसी ही परिस्थिति में से यह गुजर रहे हैं। जिस परोपजीवी जैव संसार में हम सब की स्थिति है, उसी में उन की भी है। जिस तरह हम खाद्य पेय पदार्थों के द्वारा अनेक प्रकार के जैवों को उदरस्थ कर जाते हैं, वह हम से भी अधिक कर जाते हैं। परन्तु, वह कभी बीमार होते नहीं देखे जाते, इधर हम सब सदा रोगों के शिकार ही बने रहते हैं। इसका मूलकारण है उनकी विजय-वाहनी-शक्ति का विकास, और हम सब में इस शक्तिका ह्रास। उक्त कथन केवल युक्तिवाद पर अवलम्बित नहीं, प्रत्युत इसकी परीक्षा अनेकों वैज्ञानिकों द्वारा हो चुकी है। कई जाति के जैवों का प्रवेश पशुओं में कराकर देख लिया गया है। पशुओं में उक्त जैवों की स्थिति उनकी विजय-वाहनी-शक्ति के कारण कठिन नहीं, कठिनतर है। जो जैव अत्यन्त बलवान् होते हैं जैसे चयके, वह यद्यपि

विजय वाहनी-शक्ति से नष्ट नहीं होते, तथापि उतनी वलवान् व मारक शक्ति भी उनके शरीर में उत्पन्न नहीं कर पाते; जैसा कि मनुष्यों के शरीर में कर लेते हैं। पशुओं में विजय-वाहनी-शक्ति के कारण जैवों को शरीर में कोई दृढ केन्द्र ही नहीं मिलता। इसीलिये, प्रायः लासिका ग्रन्थियों में ही घुस कर निवास वना पाते हैं और कठिनता से जीवित रहते हैं। इसीलिये, कोई भी पशु क्षय ग्रसित होकर इस के आखेट नहीं हो पाते। पर मनुष्य शीघ्र हो जाते हैं।

इस में कोई संशय नहीं कि किसी २ मानव वंश में भी कई व्याधि जैवों को दमन करने की विजय-वाहनी-शक्ति वलवान् देखी जाती है। देहरादून के पास मन्सूरी जाते हुए रास्ते में राजपुरा नामक पडाव आता है, वहा एक क्षत्रिय वंश है, इस वंश के किसी भी व्यक्ति को मलेरिया ज्वर नहीं होता। किम्वदन्ति तो यह है—कि, कोई महात्मा आशीर्वाद दे गये थे, कि जावो बच्चा तुम्हारे वंशमें किसी को शीतप्रधान ज्वर (विषम ज्वर) न होगा। परन्तु परिक्षाओं से पता लगा है कि उन के शरीर में विषम–ज्वर–नाशक विजय-वाहनी-शक्ति वलवान् है। इसीलिये, वह मलेरिया ज्वर के देश में रहते हुए भी इससे वचे रहते हैं। यदि किसी महात्मा जी का आशीर्वाद माना जाय तो यह होना चाहिये था, कि उन के यहां जब किसी और क्षत्रियवंश की कन्या विवाह करके लाई जाय तो वह भी मलेरिया ज्वर से वची रहे, पर यह वात नहीं। उनके यहा कितनी ही स्त्रिया मलेरिया ज्वरसे प्रपीडित होती हैं, पर सन्तान नहीं। हमने दो वर्ष प्रति चौमासे वाद एक मित्र डाक्टर की सहायतासे इस वातकी परीक्षाके लिये व्यतीत किये कि देखें मलेरिया जनक जैवों को सूची वेधन देने से उन्हें ज्वर होता है, कि नहीं। एक व्यक्ति के शरीर में सूची वेधन कराया, किन्तु उसका परिणाम कुछ न निकला। इस से भिन्न दून के इन इलाकों मे जहा मलेरिया का वहुत प्रकोप होता है। उन में से एक निर्वल व्यक्ति को हम साथ में भी लेकर दो

महीने तक गांव में रहे। हम स्वयम् मलेरिया ज्वर से प्रपीड़ित हो गए, पर उस को कुछ भी न हुआ।

इस से भिन्न अमृतसर में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो किसी भी नागरिक की कष्ट के समय प्रत्येक प्रकार की सेवा करते हैं। प्लेग के दिनों में जब कि मैं प्लेग रोगियों की चिकित्सा करता था और अनाथ रोगियों की सुश्रुषा के लिये उनकी ड्यूटी लगाता था, मैं देखता रहा हूं कि वह ऐसे २ गन्दे मकानों में रोगी के पास कई २ दिन व्यतीत करते रहे हैं जहा पर कई व्यक्ति जाने से बीमार हो गये थे, पर उन में से किसी के सिर में दर्द तक नहीं हुई। इससे भी हम इसी परिणाम पर पहुचते हैं कि उनके भीतर विजय-वाहनी-शक्ति का पूर्ण प्रभाव विद्यमान था। इसीलिये वह प्लेग के आखेट नहीं हुए। और कोई कारण नहीं। वास्तव में देखा जाय तो प्राणियों में यह विजय-वाहनी-शक्ति ही एक ऐसी सरक्षक शक्ति है जिससे प्राणियों का जीवन अनन्त काल से सुरक्षित चला आया है। वरना जितनी प्रवल प्रतिद्वन्दता, जितना घोर संसार का जीवन संग्राम है इससे वचना कठिन ही नहीं कठिन तर काम है।

## यह शक्ति किस तरह बनी रहती है।

जीवन के लिये विजय-वाहनी-शक्ति का शरीर में होना तो अत्यावश्यक है ही, परन्तु इसका सदा एक क्रम में बना रहना भी अत्यावश्यक है। हम पीछे बतला आये हैं कि एक ही शत्रु नहीं, प्रत्युत अनेकों ही हमारी जान के शत्रु है। और सब का धावा एक समय में भी नहीं होता। जीवन के जन्म काल या प्रादुर्भाव काल से लेकर मरणपर्य्यन्त तक, न जाने कब किस समय में कौनसा शत्रु आक्रमण कर दे कहा नहीं जा सकता। यदि शरीर में प्रत्येक प्रकार के शत्रुओं को दमन करने वाली विजय-वाहनी-शक्ति है, तो मनुष्य को समय से पूर्व अपने जीवन के नष्ट होने का भय नहीं। यदि यह शक्ति नहीं, तो पता नहीं कौन सा

शत्रु कम आकर हमारे जीवन को समय से पूर्व ही इस संसार से चलने के लिये विवश कर दे। प्रयोगों से देखा गया है कि इस शक्ति को बनाये रखने का मुख्य साधन इसका उपयोग है। अर्थात् जिस जाति के शत्रुओं का आक्रमण पूर्वकाल से होता चला आया है और उसके विपरीत विजय वाहनी-शक्ति का सचय शरीर में हो गया है तो, जब तक उसका उपयोग बना रहता है और संस्कारिक धारा का विच्छेद संस्मरणीय शक्ति से नहीं होता, उस समय तक तो उसका क्रम शरीर में स्थिर रहता है। जहा कुछ काल तक या कुछ पीढियों तक संस्कृति का उपयोग न हो, सस्मरणीय शक्ति से संस्कारिक-धारा का सम्बन्ध विच्छेद हो जाय तो उस सस्कारिक धारा से विजय-वाहनी-शक्ति का प्रभाव जाता रहता है।

आप देखेत हैं कि कई व्यक्ति गाने बजाने, या किसी और कला का अभ्यास कर लेते हैं तो जबतक अभ्यास बनाये रखते हैं खूब निपुण देखे जाते हैं। किन्तु, वह अभ्यास छुट जाय और दस बीस वर्ष गुजर जाँय, तो पुनः एकाएक उस कला का सम्पादन प्रथम तो होता ही नहीं, जो कर भी लेते हैं, वह उस निपुणता से नहीं कर पाते। ठीक यही अवस्था शरीर के भीतर होती है। जिन शत्रुओं का सामना बना रहता है, संस्कारिक धारा में सस्मरणीय शक्ति का विच्छेद नहीं होता, उसका तो प्रभाव वशानुवंश चला जाता है। जिस का छुट जाता है, उसका प्रभाव जाता रहता है। यदि कोई नया शत्रु आजाय और उसका वारम्बार आक्रमण होने लग जाय तो, उसका क्रम ज्ञात हो जाने पर, हम देखते हैं कि उक्त संरक्षण-शक्ति भी विजय-वाहनी-शक्ति में संचय हो जाती है। वह भी संस्कारिक धारा प्रवाह के साथ२ धीरे२ संचित होने लग जाती है, तभी तो संतति में पहुन्चने लगती है। और यदि अवश्यकता पडती रहे तो बराबर बढ़ती रहती है। परन्तु जब एक व्याधि के शत्रु उस के जीवन में ही नहीं, प्रत्युत कई २ पुस्त तक उस पर आक्रमण नहीं करते, तो इसका परिणाम कुछ काल के बाद यह होता

है, कि उस की विजय वाहनी शक्ति भी उस के संस्कार से शून्य होती चली जाती है, और कोई समय ऐसा आ जाता है कि उसका सस्मरणीय-शक्ति की संस्कारिक धारा से बिलकुल सम्बन्ध जाता रहता है। इसीलिये, काल पाकर यदि फिर कहीं उस व्याधि का आक्रमण हो जाय, तो उसका निवारण कठिन नहीं कठिनतर हो जाता है। यह तो विजय-वाहनी-शक्ति के ह्रास का एक कारण बतलाया। इससे भिन्न मानव प्राणि में इस शक्ति के ह्रास का एक और कारण, कृत्रिम उपचार भी है। जो इसमें औषधियों के प्रति मिथ्या विश्वास के कारण उत्पन्न हुआ।

## क्या औषध पर विश्वास सच्चा है ?

इस समय किसी भी चिकित्सक या रोगी से औषध के सम्बन्ध में पूछो तो वह यही कहेगा कि रोग औषध प्रभाव से दूर होता है; औषधियों में रोग निवारण शक्ति है। यह विश्वास एक मिथ्या विश्वास है। क्योंकि, औषध स्वयम् किसी भी रोग के निवारण में समर्थ नहीं, औषध तो केवल उचित गुणपूर्व हो तो विजय-वाहनी-शक्ति के लिये एक सहायक मात्र हो सकती है; और कुछ नहीं। परन्तु, औषध ही नैरोग्यता प्राप्त करने का एक साधन है, ऐसा विश्वास रख कर जीवन विताना अपनी आत्मशक्ति से अपना विश्वास उठा लेना है। इसलिये मनुष्यों में विजय-वाहनी-शक्ति बढ़ने की अपेक्षा घट रही है और मनुष्य अधिकाधिक बीमारियों का आखेट बनते जा रहे हैं। "रोग बढते ही रहे ज्यों,२ दवा की" की यह कहावत अटल होती जा रही है।

यदि मनुष्य केवल मात्र कृत्रिम साधन औषधोपचार का आश्रय ही लेकर अपनी आत्मशक्ति पर भरोसा रखता, तब इतनी हानि नहीं समझी जा सकती थी। परन्तु इसने किया क्या ? औषधोपचार पर इतना अवलम्बित हो गया कि अपने स्वभाविक व प्राकृतिक खान, पान, रहन, सहन, आचार, व्यवहार के सारे क्रम कृत्रिम उपचार के आश्रय होकर बिगाड़ लिये; अधिक और गरिष्ट

से गरिष्ट भोजन करके इसने उसको पचाने की शक्ति औषध में देखी, विषय-वासना की तृप्ति के साधन व रहन, सहन को कृत्रिम शक्ति से पूर्ण करने का प्रयत्न करने लगा। कहा तक लिखावें, इसने अपने जीवन का कोई ऐसा कार्य बाकी नहीं छोड़ा जिसको यह कृत्रिम साधन से पूर्ण करने में सहायता न लेता हो। इसी से तो इसकी विजय-वाहनी-शक्ति का अत्यधिक ह्रास हुआ। इसका वर्णन हम यहां पर न कर एकके भिन्न परिच्छेद में करेंगे, क्योंकि इस विषय का भी व्याधियों से पूर्ण सम्बन्ध है।

## शरीर में जैवों की स्थिति व केन्द्र।

कोई भी व्याधि जनक जैव शरीर पर जब आक्रमण करते हैं तो वह शरीर के प्रत्येक विभाग में सुचारु रूप से अपनी स्थिति नहीं बना पाते, क्योंकि शरीर के प्रत्येक विभाग या अग उनके लिये अनुकूल नहीं होते। जिस तरह हम सब अपनी रुचि के अनुकूल ही खाते हैं, तथा रुचि अनुकूल वासस्थान बना कर रहना पसन्द करते हैं, इसी तरह इनका हाल है। प्रत्येक वर्ग व जाति के जैव अपनी रुचि के अनुसार शरीर के भिन्न २ अगों के खाद्य को तथा निवास के लिये भिन्न २ स्थानों को ही अधिक पसन्द करते हैं। इसलिये प्रत्येक जैव अपना २ निवास शरीर में भिन्न २ स्थानों पर ही बनाते हैं। यही कारण है कि भिन्न २ जाति के जैवों से शरीर के भिन्न २ अंग आक्रमित होते देखे जाते हैं। जिस तरह मन्थर के जैव अन्त्र कलों में, न्यूमोनिया या फुफ्फुस-प्रदाह के फुफ्फुम कोष्ठों में या फुफ्फुस कला में, क्षय के फुफ्फुस के दक्षिणीय शिखर पर, इत्यादि। यद्यपि यह सब जानते है कि क्षय के जैव लसिका ग्रन्थियों में भी अपना केन्द्र बना लेते हैं, जिससे कण्ठ माला होती है, अस्थि में व्रणों द्वारा घुस कर अस्थि भाग में भी अपनी स्थिति कर लेते हैं, जिससे शोषी व्रण होता है। आन्त्रिक ग्रन्थियों में जब यह घुस जाते हैं

तो ग्रन्थोदर या कठोदर हो जाता है । कण्ठमाला वाले, व्रण शोषी व ग्रन्थोदरी कितने ही बचते देखे जाते हैं, पर राजक्ष्मा वाले का जीवन अबतक असम्भव माना जा रहा है। जिसके फुफ्फुस पर एक वार यक्ष्मी जैवों का आक्रमण हो जाता है उसके जीवन का यह अन्त किये विना नहीं छोड़ते। यद्यपि चारों स्थानों के व्याध्योत्पादक जैव एक है, इनका विष एक है। किन्तु सिवाय फुफ्फुस के और स्थल इनके वास्तविक केन्द्र नहीं; इसी लिये उनसे उतनी वलवान् व्याधि नहीं होती। यह वात प्रख्यात है कि कुत्ता अपने घर पर शेर होता है, दूसरे के द्वार पर जाकर नहीं; इसी तरह व्याधिकारक जैवों का हाल है। यह भी अपने केन्द्र में ही अधिक वलवान् होते हैं, अन्य स्थल पर नहीं। क्योंकि जिस व्यक्ति की परिस्थिति अनुकूल न हो वह वलवान् होकर भी निर्वल हो जाता है, इसी तरह इन जीवों का हाल है। जब वह अपने केन्द्र पर अधिकार नहीं कर पाते, तथा शरीर में नष्ट भी नहीं होते, तो इन्हें जहा रहने का मौका मिल जाता है वहीं घुस कर अपना केन्द्र वना लेते हैं, और वहीं से अपनी शक्ति का परिचय देते रहते हैं। यद्यपि क्षय के जैवों का वह जैव विष उसी रूप का होता है जैसा फुफ्फुस केन्द्र में इनके पहुंचने से वनता है, तथापि इसमें उतनी वलवान् शक्ति उत्पन्न नहीं होने पाती। और होती भी हो तो, अकेन्द्रित होने के कारण शरीर द्वारा दवाई जा सकती है। इसी लिये कण्ठमाला, ग्रन्थ्योदर आदि के रोगी अधिक काल तक जीवित रहते हैं। पर क्षय के रोगी जल्दी संसार को छोड़ जाते हैं।

उक्त एक ही दृष्टान्त देकर यह वतलाना अभीष्ट है कि प्रत्येक रोगोत्पादक जैव जब तक अनुकूल केन्द्र स्थल तक नहीं पहुंच जाते, प्रवल व्याधि उत्पन्न करने में असमर्थ रहते हैं। और जहा अपने निश्चित व अनुकूल केन्द्र में पहुच जाते हैं प्रवल व्याधि उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं। इसलिये शरीर में वहुत से

व्याधिकारक जैवों के केन्द्र स्थल निश्चित हो चुके हैं। यथा फुफ्फुस-प्रदाह के के लिये फुफ्फुसावरक, फुफ्फुस-कोष्ठ, क्षय के लिये फुफ्फुस-शिषर, शीर्ष-मण्डल प्रदाह के लिये शीर्ष-मण्डल, विषम-ज्वर के लिये यकृत–पार्श्व, कुक्कुर-कास के लिये वात-पथ, निश्रान्तकीके लिये वातपथ, सुजाक ( पूयमेह ) के लिये शिश्न की मूत्र प्रणाली, उपदंश के लिये शिश्न मणि, इत्यादि।

यह स्मरण रखना चाहिये कि हम मव कितनी ही सावधानी से अपने खान पान का व्यवहार क्यों न शुद्ध बनाये रक्खें, कितना भी स्वच्छ वायु में स्वांस क्यों न खींचे, फिर भी हमारे शरीर में अनेकों प्रकार के जैव उक्त खाद्य पेय व वायवस्थ रजकणों के द्वारा अवश्य पहुंच जाते हैं। जिसमें से अनेकों जैव तो प्रथम पाचक-रस द्वारा ही मरकर पच जाते हैं, जो बच जाते हैं, यदि वह रसवाही, रक्तवाही, लसिकावाही श्रोतों में प्रवेश करने का प्रयत्न करें तो उनकी खबर शरीर रक्षक लेलेते हैं। इनमें जो बलवान् होते हैं वही इस दूसरे किले पर डटकर शरीर रक्षकों का सामुख्य लेते हुए आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं, अन्य नहीं। जो बलवान् होते हैं वह शारी रक्षकों का सामुख्य लेते हुए अपने केन्द्र स्थल की खोज में आगे बढ़ते हैं। इस अवस्था में प्रायः वह ऐसे जैव विषों की सृष्टि करते हैं जो उन के लिये संरक्षण का विशेष काम देती है। यह विष किसी २ जाति के जैवों में इतने उग्र होते हैं कि शरीर रक्षक उनके समीप तक नहीं पहुंच पाते। इस से भिन्न जिन शरीरावयवों को वह जैव विष स्पर्श करता है उस के ही जीवन का अन्त करता चला जाता है, इसी से एक तो उन जैवों को भोजन प्राप्ति में बाधा नहीं होती, दूसरे आगे बढ़ने में भी काफी अवसर प्राप्त होता है। इस अवस्था मे इनकी वश वृद्धि प्रायः इतनी प्रबल नहीं होती। यह अवस्था वास्तव में व्याधि के प्राग्रूप की होती है, इसी अवस्था में रोगी को रोग के होने का भान हो जाता है। किन्तु, यह कहना कठिन होता

है कि कौन सा रोग होने वाला है। यद्यपि प्रत्येक जान्तविक व्याधि में प्राग्रूप भिन्न भिन्न होते हैं, तथापि इतने अदृश्य होते हैं कि किसी वैद्य को उसका अनुभव होना कठिन ही नहीं, असम्भव होते हैं। हा परिस्थिति देखकर अनुमान से कुछ न कुछ अवश्य बतलाया जा सकता है, इस से भिन्न कोई और साधन नहीं।

जिस समय रोग कारक जैव अपने इच्छित स्थान पर पहुंच जाते हैं, जहा उनको खान, पान, सरक्षण, व वंश वृद्धि आदि की बहुत कुछ सुविधा होती है वहा वह पहुच कर फिर अपना निश्चित क्रम आरम्भ कर देते हैं। अर्थात्-शरीर पर अपने प्रत्येक साधनों से आक्रमण करते हुए अपनी वंश वृद्धि का क्रम जारी कर देते हैं। उस समय फिर रोग के चिन्ह प्रादुर्भूत होते हैं, और रोगी में कुछ २ व्याधि के लक्षण स्फुटित होने लगते हैं, जो देखते २ ही दो चार दिन में स्पष्ट हो जाते हैं।

उक्त वर्णन हम ने समष्टि रूप से विषय को समझाने के लिये दिया है, दूसरे समष्टि रूप से देने पर पाठकों को और जैवों की गति, शक्ति के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ बोध हो जाने की आशा है।

---

## अवधि बन्धी व्याधि होने का कारण।

जिन व्याधियों के निवारण की विजय-वाहनी-शक्ति शरीर में विद्यमान हैं उन जैव जन्य व्याधियों की कोई अवधि नहीं होती। क्योंकि व्याधि के उत्पन्न होने पर उस के निवारण का उपाय ज्ञात रहने पर शीघ्र ही साधन मिल जाता है। परन्तु, जो जैव-जन्य-व्याधि प्रथम नहीं हुई थी, जिस के निवारण

का शरीरावयवों को पूर्ण ज्ञान नहीं, ऐसी व्याधिया शीघ्र नहीं दवतीं।

व्याधि जनक जैवों के शरीर में प्रवेश करने के वाद जो विष वह उत्पन्न करते हैं उस जैव-विष के निवारण का वल ( प्रति विष ) प्रत्येक व्याधि में एक निश्चित समय से पूर्व उत्पन्न नहीं होता। इसके लिये कुछ समय की आवश्यकता होती है, समय पाकर ही प्रति-विष वनता है। जिस समय प्रति-विष उत्पन्न होने लगता है उस समय से व्याधि का तिरोभाव आरम्भ हो जाता है। इसी मध्य के समय को अवधि कहते हैं। सीतला, न्यूमोनिया, मन्थर, आदि अनेकों जान्तविक व्याधियोंमें देखा जाता है कि यह जव उत्पन्न होती हैं तो अपना प्रभाव एक निश्चित दिन तक अवश्य वनाये रखती है। किसी की अवधि सात दिन किसी की२४ दिन, किसी की २१ दिन तक रहती है, तत्पश्चात् इनका वेग घटने लगता है; और रोगी रोग मुक्त हो जाता है। यदि जिन व्यक्तियों में इन अवधि में आकर भी रोग वल न घटे तो उस समय यह निश्चित वात होती है कि शरीरमें अभीतक प्रति विष नहीं वना, अभी विजय-वाहनी-शक्ति में वह वल उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसे समय में मृत्यु का भय उत्पन्न होजाता। जिन व्यक्तियों को कोई भी अवधि—वन्धी—व्याधि उत्पन्न होकर अपनी अवधि से पूर्व जाति रहै तो समझना चाहिये कि इस व्यक्ति के भीतर विजय—वाहनी—शक्ति विद्यमान ह। इसीलिये प्रति-विष अवधि से पूर्व ही उत्पन्न हो गया। ऐसा अवसर प्रायः उन्हीं व्यक्तियों को मिलता है जिन में या तो पैत्रिक सस्कार होता है या जिन को एक वार यह व्याधि हो चुकी होती है; औरों को नहीं। क्योंकि, पैत्रिक सम्पात्ति वालों में यह शक्ति क्रम से चली आती है। यद्यपि, कई व्याधियों में पूर्वानुभव के संस्कार वने रहने की सीमा है, तथापि ऐसा देखा गया है कि प्रायः यावज्जीवन उस का कुछ न कुछ अनुभव वना ही रहना है, और कई वार तो उसका संस्कार दृढ होता चला जाता है। इसीलिये अनेकों वार देखा

जा चुका है कि वही व्याधि यदि दूसरी वार हुई तो उतनी प्रबल नहीं होती। हां यदि इस के साथ कोई दूसरी व्याधि भी हो गई हो तो बात भिन्न है जो व्याधि जीवन में एक वार हो जाती है उस के स्वरूप का शरीर को ज्ञान अवश्य ही बना रहता है। इसीलिये दूसरी वार आक्रमण होते ही प्रति विष की योजन व्याधि के आरम्भ से ही होने लगती है। व्याधि का वेग उसी समय तक वढ़ता है जव तक प्रति विष प्रवल नहीं होता। जहां प्रति विष बढ़कर प्रवल हो जाता है उसी समय जैव विष का वह रसायनिक रूप टूटने लगता है, और उस की विषाक्त शक्ति साथ ही साथ तिरोहित होने लगती है। जहा जैव-विष नष्ट होने लगता है शारीररक्षक जैवों के समीप वढते चले आते हैं और उन तक पहुंच कर उन का संहार करने लग जाते हैं। इसीसे व्याधि विना अधिक कष्ट दिये अवधि से पूर्व जाती रहती है। उपरोक्त विषय का यहां सक्षेप में वर्णन दिया है। भिन्न २ प्रकार के जैव विष तथा उन का रसायनिक रूप व शक्ति आदि का विस्तृत वर्णन देखना हो तो व्याधि-मूल-विज्ञान में देखें।

# दूसरा-परिच्छेद।

## उदर दरी अग्नि कुण्ड है या शरीर की रसायन-शाला।

ससार में यह भ्रम फैला हुआ है कि उदर में एक अग्नि कुण्ड है जहा तिल प्रमाण अग्नि रहती है। हम जो कुछ खाते हैं वह उस अग्नि कुण्ड में जब पहुच जाता है तो जिस तरह किसी चूल्हे या भट्ठी पर पदार्थ पक जाते हैं उसी तरह उदर दरी में भोजन पहुंच कर उक्त जठराग्नि के प्रताप से पकने लग जाता है। और इसी अग्नि प्रभाव से वह घुल मिलकर रस बन जाता है। इसी को रसवाही श्रोत बहाकर रक्त में पहुचा देते है। जो अवशेष अंश बच जाता है उस को वायु मल मार्ग से बाहर निकाल देता है। यदि यही बात है तो भौतिक-अग्नि से भिन्न यह तिल प्रमाण मानी जानेवाली दैहिक अग्नि किस स्थान पर है? किस रुप में है? तथा जो कुछ खाते हैं वह इस अग्निद्वारा घुलमिल कर एक रुप कैसे होजाता है? और इस सार निस्सार दोनों का विश्लेषण या पृथक्करण कौन करता है? यदि यह कहो कि यह वायुद्वारा होता है तो इस को प्रायोगिक पद्धति से सिद्ध किया जाय। आज तक तो कोई भी व्यक्ति इसका समाधान नहीं कर सका। मन को सन्तोष दे लेना कुछ और बात है। परन्तु, किसी वस्तु को प्रायोगिक प्रमाणों से सिद्ध करना कुछ और बात है। आधुनिक विज्ञान युग है, इस युग में तो जो बात कही जाय उसका प्रायोगिक प्रमाण दिया जाय तब तो संसार मानैगा, केवल वयोवृद्धों का नाम लेकर, उन की आड़ में बैठ कर स्वीकार कराना, अब इस युग में कठिन ही नहीं कठिनतर काम हो गया है।

शरीरविज्ञान, व शरीर-क्रिया-विज्ञान सम्बन्धी खोज होती रहने पर अब तो यह बात निश्चित हो गई है कि 'उदर दरी में कोई भी अग्नि कुण्ड या तिल प्रमाण अग्नि नहीं, न पचन-क्रिया किसी अग्नि (उत्ताप) की सहायता से होती है। प्रत्युत शरीर का खोखला भाग जिसको अन्न-मार्ग या अन्नप्रणाली कहा जाता है यह वास्तव में शरीर की रसायन-शाला है।

## शरीर की रसायन-शाला का चित्र
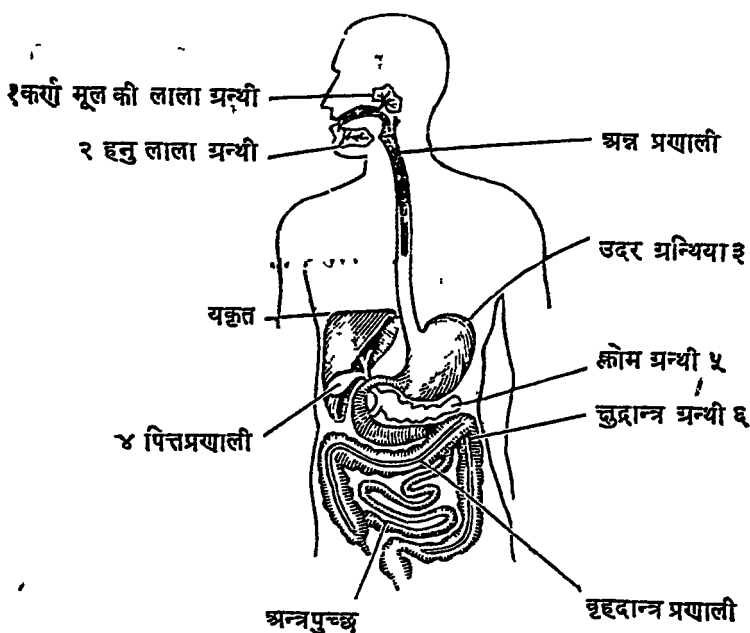
नं० १—२—यह मुखस्थ ग्रन्थिया हैं जिनसे लाला निकलता है।

नं० ३—यह उदरस्थ ग्रन्थियां हैं जिनसे उदरी रस निकलता है।

नं० ४—यह यकृतस्थ पित्त प्रणाली है जिससे पित्त निकलता है।

नं० ५—यह क्लोम ग्रन्थि है जिससे क्लोम रस निकलता है।

नं० ६—यह क्षुद्रान्त्र ग्रन्थियां हैं जिससे अन्नरस निकलता है।

उपरोक्त चित्र में रसायन शाला के मुख्य २ भाग स्पष्टतया दिखाये गये हैं। भोजन जब मुख मार्ग से होकर गले के नीचे उतरता है तो वहां से उदर (आमाशय) में पहुँचता है, यहा से द्वादशांगुलीय (ग्रहणी) मार्ग से होकर क्षुद्रान्त्र में जाता है। वहां से धीरे २ बृहदान्त्र की परधि में प्रवेश करता है जहा से सारे उदर के चारों ओर फिरी हुई बृहदान्त्र में घूमता हुआ अन्त में वह निस्सार रहकर डुण्डुभ स्थान पर पहुच जाता है। जहा पहुँचने पर शरीर से बाहर कर दिया जाता है। शरीर की यह रसायनशाला देखने में तो शरीर के भीतर दिखाई देती है पर शरीर-धर्म-विज्ञान की दृष्टि से यह शरीर से भिन्न मानी जाती है। इसको केवल शरीर के लिये उपादान तैयार करने वाला शरीर का एक भिन्न सहायक भाग स्वीकार किया गया है, शरीर का मुख्य भाग नहीं। जिस तरह हमारे रसोई गृह में भोजन तय्यार करने के पात्र, अग्नि, जल आदि उपादान रहते हैं वह उपादान केवल हमारे लिये भोजन पकाने या बनाने के लिये सहायक है। इसी तरह शरीर की यह रसायन शाला है।

इस रसायन-शाला में भोजन पचने का कार्य उसी तरह सजीवशक्ति द्वारा होता है जिस तरह एक व्यक्ति द्वारा रसोई घर में बैठ कर प्रत्येक रसोई का काम। रसोई बनाने वाला जिस तरह अपने हाथों प्रत्येक खाद्य द्रव्यों को काटता, छाटता, साफ करता, तथा उचित मात्रा में निमक, मिर्च मसाला डाल कर रुचि अनुकूल बनता है। ठीक इसी तरह शरीर के रसोईये भी इस आगत भोज्य वस्तु को क्रम से तोड़ते, चबाते, पीसते, विभाजित करते, सानते और उसको गीला करके रसायन घरमें रस बनने के लिये भेज देते हैं। कुछ रस तो भोजन के मुह में आते ही यहा सेवनना आरम्भ हो जाता है, कुछ रस उदर दरी की दीवारों से निकलता है उक्त अनेक तरह के रस, (द्रव) रसायनिक पदार्थ उस खाद्य को नरम करने, गलाने वाले, एक रुप से

दूसरे रूप में वदलने वाले मिल जाते हैं, जिस से भोजन एक रूप से दूसरे और दूसरे से तीसरे रूप में वदलने लगता है। यहा भी जो भोजन कच्चा रह जाता है उसको आगेके रसोईये गृहण कर उस पर बड़े वलवान् रस ( रसायनिक पदार्थ ) छोड़ते हैं और उसे गूंधते हुए आगे धकलते चले जाते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि आठ दश घटे के पश्चात् जो हम ने खाया हुआ होता है वह सब उसी तरह एकरूप से दूसरे रूप में वदल जाता है जिस तरह दूध से दही, खांड के घोल से शराव या सिरका। हमारी इस अन्न प्रणाली या रसायन-शाला के दो वड़े हिस्से हैं। आधा तो है रसोई घर की रसायन-शाला और आधा है उस पचे हुए भाग को पाचन करने व विभक्त करने वाली पाचनशाला। इसका यह भाग ठीक उसी तरह है जैसे भोजन पकाने और खाने के स्थान। हमारी वाहर की रसोई में तो भोजन चूल्हे पर चढते ही या रसोई में पहुंचने पर ही नहीं पक जाता, प्रत्युत धीरे २ पकता है। इसी तरह भोजन मुंह से लेकर क्षुद्रान्त्र तक अर्थात हमारे उदर के रसोई घर में—मुंह के अन्दर पहुचते ही—यहां से पकना (रसायनिक-कार्य) आरम्भ हो जाता है। और जैसे २ रसायन-शाला में भोजन आगे वढ़ता जाता है उसका एक २ कण धीरे २ टूटता चला जाता है और रसायनिक घोलों में घुल२ कर दूसरे रूप को प्राप्त करता जाता है। भोजन का यह वदला हुआ रूप उसी तरह का नरम और शरीर के ग्रहण योग्य हो जाता है जिस तरह चूल्हे पर अच्छी तरह परिपक्व हुआ २ अन्न, भाजी, मांस। जिस समय भोजन क्षुद्रान्त्र और वृहदान्त्र के भीतर क्रम से पहुचता है उस समय वहां के शरीरी उस को खाने लगते हैं। उस खाद्य में से उत्तम २ सार वस्तु तो वह खा लेते हैं जो निस्सार खाने के अयोग्य रह जाता है उसे वह आगे धकेल २ कर मलद्वार में पहुंचा देते हैं, जो मल निस्सारणी क्रिया से से वहार कर दिया जाता है। यह है उदर के अग्नि कुण्ड का रहस्य। उदर की

रसायन-शाला में यह पचन क्रिया शरीर के जिन रसायनिक पदार्थों (घोलों) से होती है। वह घोल क्या है? तथा उस पची हुई वस्तु को ग्रहण कौन करता? इसको भी हम संक्षेप में बतला देना चाहते हैं।

## पचाने वाले घोल कहां से आते हैं?

जब इस बात का पता लगा कि हम जो कुछ खाते हैं वह किसी अग्नि कुण्ड में जाकर नहीं पकता, प्रत्युत अन्न प्रणाली में कितनी ही ऐसी ग्रन्थिया हैं जिस में से द्रवरूप में कुछ रसायनिक वस्तुए निकल कर भोजन में मिलती हैं तो उन के मिलने से ही भुक्त पदार्थों के कणों पर रसायनिक क्रिया आरम्भ हो जाती है, इसी से वह भोजन एकरूप से दूसरे रूप को प्राप्त हो जाता है। वह द्रवरूप में निकलने वाली वस्तुए क्या हैं? तथा कहा २ से निकलती हैं? इसकी खोज आरम्भ हुई।

कुछ ही समय में मालूम कर लिया गया कि अन्न प्रणाली में मुख, उदर, यकृत, क्लोम और क्षुद्रान्त्र इन पांच स्थानों से पांच प्रकारके रस निकलते हैं और वह पाचों रस एक दूसरे से विभिन्नता व विशेषता रखते हैं। इनमें ही यह शक्ति होती है कि भोजन के भिन्न २ विभाग को मिल कर पचा डालें। अर्थात् एक रूप से दूसरे रूप में बदल दें, यदि वह रस किसी भोजन में न मिलने दिये जाय, किसी तरह से यह रोक लिये जाय, तो खाया हुआ भोजन उदर में उसी तरह पड़ा रहेगा जिस तरह बाहर पड़ा रहता है। जिस भुक्त वस्तुओं में यह कम मिलते हैं, या निर्बल मिलते हैं वही भोजन प्राय: पेट में जाकर दर्द, दाह अध्मान आदि विकार का कारण बनता है। उक्त पाचो रस क्या है? और कहा २ से निकलते हैं इसका हम सक्षेप में वर्णन देंगे।

---

# सुखस्थ ग्रन्थियां और उसके रस व रसायनिक क्रिया।

पहिले यह किसी भी वैद्य को ज्ञात न था कि भोजन के समय जो मुख में लाला श्राव होता है वह क्यों होता है? और इस लाला का क्या कार्य है? आधुनिक वैज्ञानिकों की कृपा से इस बात का ज्ञान हुआ कि यह लाला रस भोजन के लेईदार पदार्थ सार वस्तु ( स्टार्च, अलब्यूमन ) आदि में मिलकर उस को शर्करा में बदल देता है। बहुधा भोजन का सार भाग इसी के मिश्रण से घुलन-शील शर्करा में परिवर्त्तित होता है। परीक्षा के लिये इसका यह कार्य आप बिना किसी यन्त्र की सहायता के भी देख सकते हैं। आप चांवल की पीच, मैदा की लेई, अण्डा की सफेदी आदि कोई सार मय पदार्थ को एक पात्र में रखकर अपने मुंह की लाला श्रवा दीजिये, पुनः कुछ देर के बाद उस मण्डमय पदार्थ का स्वाद देखिये। आपको वह सारा मण्ड-मय घोल शर्बत में बदला हुआ मिलेगा। और उदाहरण लीजिये—जौ, गेहूं से शराब बनाते समय उस को प्रथम भिगो देते हैं और जब उसमें अकुर फूट निकलता है तो उसको कुचल देते हैं, अकुर निकलने पर गेहूं जौ में भी एक प्रकार का लालावत् रस बनाने वाले जैव उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे जौ में किण्व क्रिया उत्पन्न हो जाती है, उस समय जौ का सार भाग शर्करा में परिवर्त्तित होने लगता है। ऐसी दशा में यदि उन जवों को खूब कुचल डाला जायं तो जौ की विवर्द्धन शक्ति तो नष्ट हो जाती है परन्तु उस किण्व क्रिया की सहायता से हमें लाभ क्या होता है कि उसका सारा का सारा सार भाग खाड में बदल जाता है। जिसको हम यवोज शर्करा कहते हैं। अब इस शर्करा मय घोल में यदि सुराबीज ( सुरा जैव ) डाल दें तो उसका वह मीठा भाग मद्य के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। इन दोनों

क्रियाओं को रसायानिक-क्रिया कहते हैं। जिस तरह यह वस्तुयें बाहर एक रूप से दूसरे में बदल जाती हैं, ठीक इसी तरह हमारे मुंह में भोजन के पहुचते ही लाला किण्व ( Ptyalin ) की शक्ति से भुक्त वस्तु का सार भाग शर्करा में बदलने लग जाता है, और उदर में भुक्त पदार्थ का सार तब तक शर्करा में बदलता रहता है, जब तक उदर रस का अम्ल प्रधान रस उसको स्पर्श नहीं करता। कभी २ देखते हैं कि कई बार भोजन करने के कुछ देर बाद पेट में दर्द हो जाता है, इस दर्द का प्रधान कारण यह होता है कि हम जब हलवा, मैदा की पूरी आदि गरिष्ट पदार्थों को बिना चर्वण किये बिना "लालारस" अच्छी तरह मिलाये उसको उदर में उतार जाते हैं तो उसका सारा का सारा सार भाग उदर में जाकर शर्करा में परिवर्तित नहीं होता। प्रत्युत उससे एक प्रकार की लेई बन जाती है, जो उदर की दीवारों से ही चिपकने लगती है, इसीसे उदर उस चिपकने वाली लेई को दर्द रूप में सूचित करता है। जभी तो हमारे वैद्य बन्धु उस समय चूरन दिया करते हैं। जिससे मुह की लाला खट्टी, नमकीन चीज से श्रव पड़े, और वह पेट में चली जाय। चूरन वास्तव में दर्द को बन्द नहीं करता, प्रत्युत चूरन चटपटा होने के कारण मुख में अधिक लाला रस श्रवाता है, यह लाल रस ही उदर में पहुंच कर उस चिपकने वाली लेई को खाड में बदल देता है। जिससे पेट दर्द जाता रहता है, और कुछ बात नहीं। यह लाला रस हमारे मुख में विद्यमान छः ग्रन्थियों से निकलता है। यह ग्रन्थिया दो तो हनु और दो हनु दन्त मूल के मध्य में हैं, और एक दाहिने एक बायें जबाड़े के मध्य में है और दो दोनों जबाड़े के अन्त में, कर्ण-मूल ग्रन्थि के नीचे हैं। इन्हीं छहो ग्रन्थियों से लाला-किण्व और थूक बनता है। बच्चों के गिलायु रोग इन्हीं ग्रन्थियों में की दो ग्रन्थियों के शोथ से होता है।

हम भोजन को चर्वण क्यों करते हैं? इसीलिये कि रोटी

पूरी आदि में जो सारा भाग होता है उसके प्रत्येक कण तक लाला अच्छी तरह मिल जाय । जो व्यक्ति झटपट विना चबाये, विना दांतों की चक्की में भोजन को पीसे उदर में शीघ्र उतार लेते हैं, वह वास्तव में शरीर को भोजन नहीं, विष दिया करते हैं। जिस विष का प्रभाव यदि उस समय न हो तो काल पाकर अवश्य होता है। क्योंकि सार मय वस्तु को विना चबाये जब पेट में पहुंचाया जाता है तो उस पर ठीक रसायनिक परिवर्तन नहीं होता । इसीलिए, उसके जो भाग रह जाते हैं अपूर्ण होने के कारण अग्राह्य होते हैं, इसी से आगे आंतों में जाकर अपक्व रहने के कारण कुछ ऐसी रसायनिक क्रियाएं होती हैं जो शरीर के अयोग्य होती हैं । यही अपच्य भोजन पर हुई२ रसायनिक क्रियाए विकार का रूप धारण करती हैं, जिसका वर्णन आगे होगा ।

---

## उदर ग्रन्थी रस और पचन ।

जब भोजन अच्छी तरह चबाया जाकर बारीक और गीला हो जाता है उस समय निगलन-क्रिया से वह अन्न प्रणाली की ओर उतारा जाता है, वह ग्रास कण्ठ मार्ग से अन्नप्रणाली में होता हुआ उदर दरी में पहुंचता है । जिस समय यह भुक्त पदार्थ उदर की मध्य दीवारों को जाकर स्पर्श करता है उसी समय उदर ग्रन्थियों में से अम्ल प्रधान रस व एक प्रकार का कैण्वी-रस पाचीन ( pipsin ) निकल कर उक्त भोजन में मिलने लगता है । जिस तरह हम भोजन के ग्रास को मुह में छोड़ कर दांतों से पीसते, जिह्वा से उलटते, पलटते लाला रस मिलाते रहते हैं, ठीक इसी तरह

उदर गुहा में भोजन के ग्रासों के पहुंचने पर उसको भी उदर की दीवारों द्वारा नीचे ऊपर किया जाता है। जिसका नाम उदर की मन्थर-क्रिया है। इस मन्थन-क्रिया का भी प्रयोजन वही है जो मुख में चर्वण या जिह्वा द्वारा उथलन, पुथलन का ।

उदर की मन्थन-क्रिया से उदरी रस भोजन में जब अच्छी तरह मिल जाता है तो इस से भोजन का नत्रजन प्रधान भाग अर्थात् अस्त्रजनीय भाग जो मास मय होता है, और जिससे शरीर का मांस भाग बनता है, उस पर विशेष रसायनिक क्रिया होने लगती है । इस से भिन्न जो सार शर्करा में परिवर्तित हो चुका होता है वह उदरी रस के प्रभाव से विशेष प्रकार की फलोज व द्राक्षोज शर्करा में परिवर्तित होने लगता है। इस उदर की ग्रन्थियों से पाचीन-कैण्वी-रस, दधीन ( renin ) द्राक्षोज-कैण्वी-रस तथा लेह बनाने वाले और कई लवणाम्ल पदार्थ होते हैं। यहां पर प्रायः भोजन का अस्त्रजन भाग जैसे मास, मछली, अंडे की जर्दी प्रत्येक प्रकार की दाल व सब्जियों का अस्त्रजन भाग शरीर के अस्त्राजिन रूप में बदलता है और वह आगे चलकर विशेष सुव्यवस्थित रूप में जाकर परिपाचित होता है, तत्पश्चात् अन्त्र की दीवारों से परिचूषित होता है। जिन उदर की ग्रथियों से यह रस निकलता है यह ग्रन्थिया भी उदर में एक दो नहीं, प्रत्युत कई हैं।

---

## ग्रहणी रस और पचन ।

जब भुक्त पदार्थ में उदरी रसों का मिश्रण होने पर उसका अधिक भाग पच्य-लेही के रूप को प्राप्त हो जाता है, उस समय उस लेही को आगे भेजने के लिए इस रसायन शाला का मुख द्वार खुलता है, और थोड़ा २ करके वह ग्रहणी ( द्वादशागुलीय-अन्त्र ) में पहुचाया जाता है।

**पित्त का कार्य**—जिस समय पच्य–लेही ग्रहणी कला को स्पर्श करती है, उस समय उस कला के साथ लगी हुई पित्त प्रणाली जो पित्ताशय से निकलती है, अपना मुख द्वार खोल देती है। और इसी के कुछ आगे पित्तसंलग्न लेही के पहुंचने पर क्लोम प्रणाली जो क्लोम थैली से निकलती है उसका भी मुख लेही को स्पर्श करते ही खुल जाता है। जैसे २ उक्त लेही क्रम से आती जाती है वैसे २ इन दोनों प्रणालियों से निकलने वाले पित्त व क्लोम रस इसमें मिलते जाते है। इन दोनों मिले हुए रसों का नाम ग्रहणी रस है। इन दोनोंमें से पित्त क्षार प्रधान रस है जिसकी प्रतिक्रिया अम्लीय है। इसी से यह प्रायः स्नेही पदार्थों में मिलते ही उस को प्रथम स्नेह कादव बना देता है। जिसके साथ उसमें रसायनिक परिवर्त्तन आने लगता है और स्नेही भाग परिपच्य रूप धारण करता जाता है। पित्त में केवल स्नेही पदार्थों को पचाने वाला रस ही नहीं होता, प्रत्युत गन्धजित प्रतिजैवी, रक्तजन, रक्ताजिन, मल–सारी, रक्त को उत्पन्न व विवर्द्धन करने वाले और कई पदार्थ मिले हुए होते हैं।

**क्लोम का कार्य**—क्लोम रस शरीर में सब रसों से बलवान् क्षारीय रस होता है और इसमें प्रायः उक्त रसों के तद्वत् मिली जुली शक्ति होती है। भोज्यांश जो पूर्व के रसों से अछूते बच कर निकल आते हैं, जिस पर किसी रस का प्रभाव न पड़ने के कारण यह जैसे के तैसे रहते हैं, इस बड़ी रसायन शाला में पहुंच कर प्रायः अछूते नहीं रह पाते। यहां पर एक तो मार्ग तग होता है, दूसरे भुक्त पदार्थ जो पच्य रूप में होता है थोड़ा २ विभक्त करके गुजरने दिया जाता है। इसलिए, वह भुक्त अंश इस रस की नजरों से बच कर नहीं जाने पाता। चाहे भुक्त वस्तु का सार भाग हो या असृजनीय अथवा स्नेही किसी को भी यह नहीं छोड़ता, सब पर कुछ न कुछ अपना प्रभाव अवश्य डालता है। इस रस में कई प्रकार की कोषिक शक्ति

होता है, इसलिए पच्य लेहि अधिक परिपच्य होने लगती है, और जैसे २ वह परिपच्य होती जाती है वैसे २ आगे बढती जाती है ।

**आन्त्रिक रस का कार्य**—जिस समय पच्य लेही द्वादशागुलीय अन्त्र भाग को पार कर के क्षुद्रान्त्र में पहुचती है यहा पर भी आन्त्रिक रस जो क्षुद्रान्त्र ग्रन्थियों से निकलता है यह उसका स्वागत करता है । इससे भिन्न वहां पर एक नये कार्य कर्ता भी परिपच्य वस्तु का स्वागत करते हैं, जिनका नाम है अन्त्रकला के सजीव आचूपक । यह क्षुद्रान्त्र कला के सजीव आचूपक उस परिपच्य लेही को स्पर्श करते ही उसका कोमल सार २ भाग आचूपण करने लगते हैं, और उसको अपने भीतर की सूक्ष्म रसवाही नलियों में पहुचा देते हैं । जहां से लसिका वाही बड़ी नालिया उस रस को बहाने लग जाती हैं । जिस समय वह रस अन्त्रकला के आचूषकों से आचूषित होकर अन्त्र में थमी हुई लसिका रसवाहो में पहुचता है उस समय उस रस की लसिका सज्ञा हो जाती है । यहां लसिका रस सीधे अशुद्ध रक्त में जा मिलता है, जहा से पुनः फुफ्फुस द्वारा शुद्ध होता हुआ शुद्ध रक्त में मिल जाता है, और वह रक्त शरीर के प्रत्येक अवयव तक पहुच कर शरीर के रुचि अनुकूल पदार्थ देता चला जाता है । इससे शरीरावयों की क्षयपूर्ति व वृद्धि होती रहती है । इस तरह क्षुद्रान्त्र में आन्त्रिक रस से एक तो पच्यलेही परिपच्य रूप को प्राप्त होती रहती है, दूसरे जो परिपच्य हो जाती है वह आचूषकों द्वारा आचूषित होकर गाढ़ी होती हुई आगे बढ़ती चली जाती है । जो क्षुद्रान्त्र से चल कर बृहदान्त्र में पहुच जाती है, जहा उसका पूर्णतया परिपच्य भाग चूसा जाता है, जो गाढा सार रहित भाग रह जाता है वह मल द्वार की ओर ढकेल दिया जाता है । जो प्रायः २४ घण्टे में मल नाम से बाहर फेंक दिया जाता है । यह है उदर में होने वाली रसायनिक क्रिया और भोजन का पाचन ।

# पाचकरसों का परिमाण व पचन समय
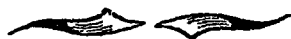
हम ने ऊपर न तो पाचकरसों का परिमाण ही बतलाया है, न भोजन का पचन समय। कई व्यक्ति सम्भव है कि उक्त पाचक रसों का वर्णन पढ़ कर भ्रमवश यह समझ न बैठें, कि जब पचाने वाले उदर में एक से एक बढ़कर कई रस निकलते हैं, और जो भोजन एक से पचने में बच जाता है तो दूसरे तीसरे से बचना महान् कठिन हो जाता है, इस लिये यह प्रबन्ध तो उदर के अग्नि कुण्ड से भी अच्छा है। चलो खूब खावो! और दबा २ कर भारी से भारी शक्तिवर्द्धक पदार्थ खावो! पाचक रस तो उन्हे पचा ही डालेंगे। ऐसा समझना बड़ी भारी भूल है। प्रकृति में कोई भी काम सीमा रहित नहीं होता, यह नियम है। प्रत्येक जीव की शारीरिक बनावट व शक्ति ऐसी होती है जिस की एक निश्चित सीमा है। मनुष्य शरीर के तो प्रत्येक कार्य व्यवहार प्रत्यक्ष में सीमित देखे जाते हैं। आप देखते हैं कि हमारे या आपके उदर में भोजन का स्थान सीमित है, ऐसी दशा में उस भोजन में मिलकर उस को पचाने या शरीर योग्य बनाने वाले रस भला कब असीमित हो सकते हैं। उन की भी अवश्य एक सीमा है, और उस सीमाके भीतर ही वह उचित परिमाण में निकलते हैं, अधिक नहीं। उनकी मात्रा व शक्ति कहा तक होती है, पाठकों को हम थोड़े में ही बतला देना चाहते हैं।

आप देखते हैं कि भोजन का ग्रास जब मुंह में छोड़ा जाता है तो वह तब तक प्राकृतिक नियमानुसार गले से नीचे नहीं उतरता जब तक टुकडे २ होकर अच्छी तरह गीला न हो जाय। इसी लिये यह उतनी देर मुंह में चबाया व फिराया जाता है जितनी देर में आवश्यक लाला मिल जाय। तब कहीं आगे ले जाने के लिये मुंह और जिह्वा की मास पेसी को प्रेरित किया जाता है।

इस लाला का परिमाण भोजन के गरिष्ट, शुष्क व नरम, गीले होने के ऊपर निर्भर है। जितनी कठिन दुष्पाच्य व शुष्क चिमड़ी अधिक सारपूर्ण वस्तु होगी उतनी ही अधिक देर मुँह में चवर्ण की जायेगी, और उस में उतनी ही अधिक लाला मिलेगी। फिर भी साधारणतया एक सेर भोजन खाने में कम से कम एक पाव लाला का मिश्रण अवश्य होता है। और इसकी शक्ति उस समय तक पूर्णतया कार्य करती रहती है जब तक उदर ग्रन्थियों का रस भुक्त वस्तु पर अपना पूर्ण अधिकार नहीं कर लेता। इस का अधिक से अधिक समय भोजन करने के एक या डेढ़ घण्टे तक रहता है। इस के पश्चात् वह भोजनपूर्णतया उदर ग्रन्थि जन्य रस के आधीन हो जाता है। वहां भी भोजन के गरिष्ट और मृदु रूप के अनुसार ही उदर गून्थि रस उसमें मिलता है। इससे भिन्न भोजन की मात्रा व भोजन करने वाले की शक्ति पर भी इस रस का टपकना निर्भर है। इसीलिये जैसा भोजन हो व जैसा बलवान् शरीर हो उसके अनुसार ही आध सेरसे लेकर ऽ२॥ सेर तक उदरी रस निकलते हुए पाया गया है। प्रायः एक सेर साधारण भोजनमें आध सेर से कम नहीं मिलता। भोजन इस रस के आधीन होकर ३—३॥ घण्टे तक उदर में रहता है। इस के पश्चात् असृजनीय भाग के बहुत कुछ घुल जाने और भोजन के पच्य लेही रूपमें पहुच जाने पर वह फिर उदरकी मास पेशियों द्वारा थोड़ा २ करके आगे बढाया जाता है। जो ग्रहणी में पहुचते ही उस का पित्त रस व क्लोम रम स्वागत करते हैं। इस में पित्त की मात्रा भी भोजन में स्नेही पदार्थों की न्यूनाधिकता के अनुसार ही होती है। प्रायः पित्त खाये हुए स्नेही द्रव्य से दूना निकलता है। इसी तरह क्लोम रस भी एक मेर से लेकर चार सेर तक निकलता है, और अधिकतर भुक्तवस्तुओं के विशेष पचन का कार्य इमी रस के भिन्न २ मिश्रित रसायनिक द्रव्यों व पाचक किण्वों को करना पडता हे। इमसे भिन्न इसकी थोड़ी बहुत सहायता अन्त्रस्थ ग्रन्थि-रस भी करता है। क्योंकि छोटी

आँतों में भी कुछ छोटी २ ग्रन्थिया हैं जिन में से पाचकरस निकला करता है और पचन क्रिया भी होती है। इन ग्रन्थियों से एक और प्रकारका ऐसा रस भी निकलता है जो वृहदान्त्र को उत्तेजना-शक्ति देने का काम करता है। इसकी मात्रा जिस व्यक्तिमें पूर्ण वनी रहती है और जिसके उदरमें इन ग्रन्थियों के मुँह विकार रहित खुले रहते हैं उस व्यक्ति को प्रायः कब्ज होती ही नहीं। ग्रहणी कला से जो भोजन परिपच्यार्थ आता है वह ग्रहणी रसों के आधीन कोई ४-५ घण्टे रहता है। इसके पश्चात् क्षुद्र आतों की मास पेशिया अपनी आकुंचनी प्रकुचनी क्रिया से उसको वड़ी आतों की ओर आगे वढाती रहती हैं उस समय क्षुद्रान्त्र वन्धन पुच्छ उत्थित होकर वृहदान्त्रका मुख खोल देती है, जिससे धीरे २ सारे की सारी परिपच्य लेही वृहदान्त्र में जाने लग जाती है। वृहदान्त्र में जव परिपच्य लेही पहुंचती है तो यहा पर उस परिपच्य लेही का अच्छी तरह विश्लेषण किया जाता है। वह तत्व वस्तुऐं जो शरीर के योग्य वन चुकी होती हैं उनको वृहदान्त्र कला की दीवारों के अवयव आचूषण क्रिया से आचूषित कर लेते हैं, और उसे लसिका वाहनी में पहुंचाते रहते हैं जो तत्व भाग परिपच्य के मध्य में जाता है, अन्त्र शक्ति उस परिपच्य लेही को सदा नीचे ऊपर करके तत्व वस्तुयें आचूषकों के सामने लाती रहती हैं। यहा पर वृहदान्त्र का कार्य पूरे फिल्टर करने वाले यन्त्र जैसा होता है। जिस तरह कोई गाढ़ा घोल सूक्ष्म परिश्रावक यन्त्र में भर कर रख दिया जाता है तो धीरे २ उसका सारा का सारा तरल भाग परिश्रावक से नीचे निकल जाता है, और शेष भाग प्रगाढ रूप में ऊपर रह जाता है, ठीक इसी तरह यहा भी होता है। चारों ओर अन्त्र के अनन्त आचू-षकों द्वार तत्व भाग चूसा जाता है और जो कठिन भाग अन्त्र क्रिया की विभा-जन शक्ति से परे—वेलनाकार या ग्रन्थाकार में वच जाता है, वह मल द्वार में पहुंचा दिया जाता है, वह मल विसर्जनी क्रिया से वाहर कर दिया जात

है। इस तरह बृहदान्त्र में परिपच्य लेही के भुक्त भागों को कोई ८, ९ घन्टे तक रहना पड़ता है, तब जाकर उसका पूर्णतया तत्व भाग आचूषित होकर शेष मल रूप में शौच जाने के समय निकलता है। इस निस्सार वस्तु को निकलते तो सब कोई देखते हैं कि यह मल है। किन्तु तत्व वस्तु जो हमारे शरीर में समा जाती है उसका क्या २ बनता है यह किसी को दिखाई नहीं देता। हम उसके असली रूप को साधारणतया न जान सकें, पर उस के परिणाम को तो अच्छी तरह जानते हैं। हमारे शरीर में जितना बल, पौरुष व शक्तिया कार्य करती दिखाई देतीं हैं वह सब उसी भुक्त तत्व पर अवलम्बित हैं। और जब एक दिन भी शरीर को भोजन द्वारा उक्त भुक्त तत्व नहीं दिया जाता तो शरीर की क्या दशा होती है, यह भी किसी से छिपा नहीं। इसलिये यह कहना कि भोजन ही प्राणियों में शक्ति व जीवन है, कोई अत्युक्ति नहीं।

---

## शरीर में पाचनी शक्ति परिमित है या अपरमित।

ऊपर जो कुछ शरीर में भोजन के पचने का प्रबन्ध दिखलाया गया है यह सब शरीर की आन्तरिक शक्ति के आधीन है। हमारी इच्छा के बिना जितनी भी शरीर में क्रियायें होती हैं वह सब शरीर के अवयवों द्वारा होती हैं, इन्हीं के आधीन सारे का सारा आन्तरिक कार्य रहता है। इसीलिये इन के कार्य व्यवहार की एक सीमा हैं। जिस तरह हम प्रत्येक काम को विचार के साथ करते हैं और अपनी समझ के अनुसार एक भी अनुचित काम होने नहीं देते। इसी तरह यह भी अपनी बोध शक्ति की सहायता से प्रत्येक कार्य व्यवहार समय पर नियमित ही करते रहते हैं। परन्तु जिस तरह कोई व्यक्ति हमको विवश करके अयोग्य, अनुचित

असीमित कार्य कराने लगता है तो हम परवसावस्था में विवश होकर करते तो रहते हैं, पर हम अपनी असमर्थता का साथ२ अनुभव भी करते रहते हैं, इसी तरह इन का हाल है। यदि कोई व्यक्ति अपनी बढ़ी हुई लिप्सावस इन शरीरावयों से अधिक काम लेता है या काम लेने के लिये विवश करता है, तो यह भी कुछ समय तक लाचार होकर उस काम को करते रहते हैं, पर भला यह भाड़े का टट्टू कब तक चल सकता है। क्योंकि शरीर में तो प्रत्येक तरह के कार्य करने की शक्ति परिमित होती है। इसी लिये थोड़े ही दिन के वाद दिखलाई देने लग जाता है कि शरीर से असली शक्ति भी जा रही है। हम प्रकट देखते हैं जो व्यक्ति दस मील नित्य चल सकता है यदि उसे तीस मील नित्य चलने के लिये विवश किया जाय तो वह कितने दिन निभावेगा। एक मन वोझ उठाने वाले को कहो कि तीन मन बोझ उठाले तो वह भार उसकी शक्ति से वाहर होनेके कारण नहीं उठाया जा सकता। इसी तरह जो भोजन मनुष्य एक सीमा के अन्दर ही नित्य कर सकता है, कभी कोई व्यक्ति एक आध दिन उससे चाहे आधिक खाकर हजम कर जाय, पर नित्य आधिक खाना और उसको खाकर पचाना कठिन ही नहीं, कठिनतर है।

---

## अहार और विकार

---

भोजन करने का मुख्य उद्देश्य यह है कि हमारा जीवन व्यापार ठीक तरह से चलता रहे, भोजन करने का प्रयोजन ही जीवन को स्थिर वनाये रखना है। और यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि शरीर की शक्ति व क्रियायें सव भोजनाश्रित है। एक दिन भी जिस को भोजन नहीं मिलता उस के शरीर की

क्या अवस्था होती है किसी से छिपी नहीं। वास्तव में अहार ही शरीर व मानसिक शक्तियों की क्षय-पूर्ति व वृद्धि का मूल कारण है, अहार ही जीवों का जीव है, पर यह अहार किस रीति से खाना चाहिए? कितने २ समय के पश्चात खाना चाहिए? इस बात को हम बहुत कुछ भूलते जा रहे हैं, हमारे भोजन करने का उद्देश्य भी बदल रहा है। हम अब शरीर की क्षय पूर्ति के उद्देश्य को लेकर नहीं खाते प्रत्युत, जिह्वा का स्वाद लेने के लिए या विषय तृप्ति के अर्थ खाते हैं। इसीलिए हम स्वादिष्ट और अधिक से अधिक शक्तिशाली भोजन की तलाश करते रहते हैं। पर वास्तव में न रस स्वाद शरीर की पुष्टि का साधन है, न इन्द्रिय तृप्ति मनुष्य जीवन का उद्देश्य।

आप ससार के किसी भी प्राणि को देखिए सब के सब क्षुधा लगने पर खाते हैं, और जो उन्हें सर्व प्रथम प्राप्त हो जाता है खा लेते हैं। चाहे वह खाद्य बढ़िया हो या सादा, स्वादिष्ट हो या स्वाद रहित। उन्हें इस बात का कभी ध्यान तक नहीं होता कि प्राप्त खाद्य छोड़ कर रसीली स्वादिष्ट वस्तु ढूढी जाय। हमारे देश के कई तर्कवादी कहने लगते हैं कि उनका भोजन सुरक्षित नहीं होता। यदि वह भोजन को छोड दें तो उसी समय दूसरा प्राणी आकर उस को खा जाता है। मनुष्यों में अब यह बात नहीं, इसका भोजन अब प्राय: सुरक्षित ह, एकाएक कोई छीन नहीं सकता। इससे भिन्न वह तर्कवादी कहते हैं कि एक विचारवान् प्राणी से पशुओं (अविचारशील प्राणियों की तुलना क्या। कहा सर्व गुण सम्पन्न मनुष्य, कहा निर्बुद्धि पशु। यह तर्कवादियों की धारणा बिलकुल मिथ्या है। जो व्यक्ति अपनी वास्तविक स्थिति को नहीं जानता, वही इस प्रकार की तर्कनायें उठाते हैं, वास्तव में मनुष्य पशुओं की श्रेणी से किसी भी अवस्था में बाहर नहीं। यह अपने को समझने में चहे कितना श्रेष्ठ समझे, पर इसके इस समय भी अनेकों कृत्य ऐसे पशुओं से गिरे

हुए निन्दनीय होते हैं, जिन पर पर्दा पाना ही अच्छा है। मैं इसका एक उदाहरण रखता हूं—आप देखते हैं कि प्राणियों को यह जीवन कितना प्यारा है, वह इस को सदा बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं, पर मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो अपने इस जीवन को आत्म हत्यादि जघन्य कर्मों से नष्ट कर डालता है। क्या यह मूर्खता पूर्ण कार्य पशु भी करते हैं? कदापि नहीं। जिस अप्राप्य जीवन को संसार में सब सुरक्षित बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं उस को ही हम जरा २ से कारणों पर नष्ट कर डालते हैं, कितनी मूर्खता है। और लीजिए—ससार के प्रत्येक प्राणी अपनी जीवन अवस्था पूर्ण करके ही संसार छोड़ते हैं, और जब तक जीवित रहते हैं प्रायः निरोग देखे जाते हैं। हमारी बुद्धिमत्ता देखिए! हमारे बालक जन्म से (गर्भ में) ही मर जाते हैं, और १०० में से ९० जन्मते ही रोगों के शिकार होते हैं। धन्य है बुद्धिमानी और श्रेष्ठता। इससे भिन्न कुछ विषयी और तर्कवादियों के प्रमाण देखिए। कई कहते हैं कि जितना अधिक भोजन खावोगे उतने ही अधिक बलवान् बनोगे, जितना अधिक पुष्टिकर भोजन होगा उतना ही उससे अधिक शरीर में बल, पौरुष आवेगा। क्योंकि भोजन ही शरीर की शक्ति का एक मार्ग है। और फिर जिस अहार को देखने से चित्त प्रसन्न न हो, जिस के खाने से जिह्वा लार न टपकावे, ऐसा भोजन निरस, निर्बल होता है। जिस भोजन को देख कर, खाकर चित्त प्रसन्न न हो, उसको नहीं खाना चाहिए। यदि ऐसे भोजन किये जाय तो रुचि अनुकूल न होने पर अनेक दुःखों व रोगों के कारण बनते हैं। जो व्यक्ति अच्छा स्वादिष्ट, देखने में चित्त प्रसन्न करने वाला भोजन नहीं करते, जिस भोजन से चित्त प्रसन्न नहीं होता, उस के खाने से न तो अच्छा रक्त उत्पन्न होता है न अच्छे विचार उत्पन्न होते हैं। वास्तव में श्रेष्ठ, स्वादिष्ट भोजन ही स्वस्थता और उत्तम विचारों का कारण है। इसी लिए तो उत्तमोत्तम अहार करना चाहिए।

इस में कोई संशय नहीं कि उक्त बातों की तह में बहुत कुछ सचाई इस तरह छिपी हुई है, जैसे दूध में मक्खन। परन्तु उक्त कथन शैली में असली सचाई को इस तरह छिपाया गया है जिस तरह छिलकों में जीवनीय तत्व (विटामीन), यहा पर ठीक झूठ को सच्चाई के रूप में दिखाया जाता है। जिस तरह परदे की ओट में अज्ञात प्राणियों पर वार करने में काठिनता नहीं होती ठीक इसी तरह धूर्त्त वैद्यों, डाक्टरों, हकीमों द्वारा उक्त कथन मूर्ख, भोली-भाली जनता को रोग और दुःखों में फंसाने का आयोजन है। इन धूर्त्तों के अधिक साथी भी वही पुरुष हैं जो अधिक विषय लम्पटी, और जबान के चटोरे होते हैं। ऐसी ही युक्तियों का नाम न्याय में छल है, कि दिखाना स्वर्ग का दृश्य, पर ले जाकर खड़ा कर देना कुम्भी पाक नरक में।

आप किसी भी योग्य चिकित्सक के पास चले जाइए और भोजन सम्बन्धी नियम पूछिये, सब समझदार यही सम्मति देंगे कि भोजन ऐसा हो जिसको देख कर चित्त प्रसन्न हो, खाने की रुचि हो, पचने के समय शीघ्र पाची हो, आमाशय और अन्त्र को अधिक समय तक काम न करना पड़े। और भोजन उस समय करो जब वास्तविक क्षुधा लग रही हो, बनावटी भूख में मत खावो। और न केवल खट्टी, मीठी लज़ीज़ चीजें देख कर तबीयत को ललचाओ। इस से भिन्न कोई भी श्रेष्ट चिकित्सक यह सम्मति नहीं देगा कि पुष्टि के लिए खूब गरिष्ट भोजन खाओ, जो समय पर हजम न हो सके। और न सुस्वादु वस्तुओं को ही अधिक मात्रा में खाने के लिए अनुमति देगा।

जो व्यक्ति अनियमित अहार विहार करते हैं वस्तुत. उन्होंने इस बात को नहीं समझा कि अनियमित और अधिक अहार से क्या २ हानिया होती हैं। वह इस बात से बिलकुल अभिज्ञ है। शरीर में व्याधियों को उत्पन्न करने का वास्तविक कारण ही अहार द्वारा उत्पन्न विकृति या दोष है।

# अहार द्वारा विकार कैसे होता है ?

साधारणतया जो कुछ हम खाते हैं, यदि वह इतना खाया गया है कि पाचक रस उसमें उचित मिल गये हैं, तो उस खाद्य में मुंह से लेकर बृहदान्त्र तक पूर्णतया उचित रसायनिक परिवर्तन होता चला जाता है। और उस भुक्त वस्तु के भिन्न २ बने हुए रसायनिक संगठित रूप शरीरावयवों द्वारा ग्रहीत कर लिए जाते हैं। जो रसायनिक परिवर्त्तन से सून्य रह जाते हैं, जिसका कोई अंश शरीर के ग्रहण करने योग्य नहीं होता, वह मल मार्ग से बाहर कर दिया जाता है । यह क्रियां भोजन करने के समय से लेकर उक्त भुक्त वस्तु के बचे हुए भाग को मल रूप में निकलने तक कोई १७-१८ घंटे में समाप्त होती है। किन्तु जब भोजन अधिक व गरिष्ट खाया जाता है या शरीर की पाचक रस निर्माता ग्रन्थियां विकारी होने पर निर्बल व पाचक रस बनातीं हैं, तो दोनों ही अवस्थाओं में भोजन का पचन ठीक २ समय पर नहीं हो सकता। इसलिये ऐसी अवस्था में भोजन पचन का समय भी निश्चित नहीं रहता। भोजन हम चाहे जिस उद्देश्य से करें, खाना हमारे आधीन अवश्य है। किन्तु पचाने वाले अग व शरीर के ग्राहकों का उद्देश्य तो शरीर की क्षय-पूर्त्ति व वृद्धि के अर्थ होता है। इसलिये जब तक अहार उदर में पहुंच कर पचता नहीं या ऐसी विकृति उत्पन्न नहीं हो जाती, जो उक्त आन्तरिक अवयवों के लिये अग्राह्य हो, उस समय तक अहार को प्रायः आगे जाने नहीं दिया जाता । अर्थात् यदि आमाशय में हैं और उस पर उदर ग्रन्थियों से निकलने वाले रस का पूर्ण प्रभाव नहीं हुआ है, तो वह भुक्त द्रव्य तीन घण्टे की अपेक्षा चार पाच घण्टे तक वहां ठहरता देखा जाता है। कितने ही व्यक्तियों में छः २ आठ २ घण्टे तक

उक्त भुक्त द्रव्य रुक कर पचता हैं। इसी तरह जब पच्य-लेही क्षुद्रान्त्र की तरफ बढती है तो वहां भी यही अवस्था होती है। अर्थात् क्लोम रस, पित्त रसादि ( ग्रहणी रस ) उस पच्य लेही में ठीक २ न मिलें तो वह पच्य लेही बड़े धीरे २ आगे बढ़ती है, दूसरे क्षुद्रान्त्र में जाकर अपच्य लेही चार पांच घण्टे की अपेक्षा आठ २ दस २ घण्टे तक का समय ले लेती है। और जब वह परिपच्य लेही का रूप धारण करती है तो फिर वृहदान्त्र की ओर बढ़ाई जाती है, ऐसे अहार जिनका समय पर सम्यक् परिपाचन नहीं होता, वह वृहदान्त्र में अधिक समय तक ठहरते हैं। इसीलिये ऐसे व्यक्तियों को समय पर शौच नहीं आता, विष्टब्धता हो जाती है। वृहदान्त्र में परिपच्य लेही का जब तक आचूषण क्रम पूर्ण नहीं हो जाता, ग्रह्य वस्तु अच्छी तरह ग्रहण नहीं करली जाती, उस समय तक वह अश आगे नहीं बढ़ाया जाता। जिस समय साररहित होने पर यह निस्सार भाग डुण्डुभ स्थान पर पहुंचता है तब मल निस्सारणेच्छा उठती है, इस तरह नहीं।

जो भोजन खाये जाने पर एक निश्चत समय के भीतर न पचे। उसमें तीन मुख्य कारण होते हैं। (१) भोजन का मात्रा से अधिक खाया जाना (२) पाचक रसों में कमी हो जाना (३) पाचक रसोत्पादनी ग्रन्थियों के विकार से पाचक रसों का निर्बल या अयोग्य बनना।

इनमें से हम प्रत्येक पर अलहदा २ कुछ विचार करेंगे।

## सारवान् अधिक भोजन और विकार।

आप देखते है कि आटा या मैदा को जब हम जल में घोल देते हैं तो इस तरह उसमें कोई विकार नहीं देखा जाता, पर जब हम उस घोल को अग्नि पर चढ़ा देते हैं तो उष्णता पाकर उक्त घोल लेई में परिवर्त्तित होने लगता है, और उसमें अब चिपकने का गुण उत्पन्न हो जाता है। ठीक यही अवस्था

हम अधिक सारवान् वस्तु खाते हैं तो उदर में भी उस समय उत्पन्न हो जाती हैं, जब लाला रस उक्त सारवान् वस्तुओं में अच्छी तरह नहीं मिलती।

सारपूर्ण वस्तुके अधिक खाये जाने पर या चबाकर न खाये जाने पर, उस भुक्त वस्तु का सारभाग जो सारा का सारा शर्करा में बदलना चाहिये था नहीं बदलता। प्रत्युत उदर में पहुंच कर जल के साथ मिलते ही मन्थन क्रिया से घोल में परिवर्तित होने लगता है। जो भाग लाला-रस के प्रभाव से बच जाता है वह भाग शरीर के उत्ताप से लेई में (ल्हेसदार शकल में) परिवर्तित हो जाता है। यह लेई जब तक आँतों में न पहुंचे शर्करा के रूप में नहीं बदलती। इसलिये जब तक वह आमाशय में रहेगी, मंथन क्रियासे आमाशयमें ही फिरती व चिपकती रहेगी। कभी २ यह अधिक गाढी होकर ऐसी चिपक जाती है कि रस स्रावीग्रन्थियों का मुंह बन्द कर देती है, आमाशय की मन्थन क्रिया रोक देती है और चिपक कर पीड़ा का कारण बनती है। अनेक बार इसके चिपकने से और रस स्रावी ग्रन्थियों के मुंह बन्द हो जाने से बड़ा दर्द शुरु हो जाता है। पेट भारी, बोझल होकर रुक जाता है। यदि यह लेई आमाशय से चलकर क्षुद्रान्त्र में पहुंच जाय और ग्रहणी रस के प्रभाव से प्रभावित न हो तो वहां भी इसका यही काम होता है; आन्तों में भी चिपक कर उस की क्रिया में बाधा उत्पन्न कर देती है। और रसस्रावी ग्रन्थियों के मुखमार्ग अवरुद्ध कर पचन क्रिया रोक देती है, इस से भी दर्द, अध्मान आदि कष्ट उत्पन्न हो जाते हैं। जिस समय सारवान् वस्तु के अधिक खाने से जैसे—पूड़ी, हलवा या मैदे का पकवान आदि—से जब दर्द होने लगे, उदर में कष्ट प्रतीत होता हो, उस समय समझदार व्यक्ति निमक, मिर्च अम्ल मिश्रित चूरन आदि वस्तुएं उसको खाने के लिये दे देते हैं। इससे क्या होता है? कि चूरन इत्यादि निमकीन चटपटी वस्तुएं मुख में पड़ते ही लाला स्राव आरम्भ करा देती है जिसके उदर में पहुंचते ही उक्त लेई रूप में सारवान्

वस्तु लाला स्पर्श से शर्करा में बदल ने लगता है। और उदरसे उसका ल्हेसपन चिपचिपाहट =दूर होने लगता है, इसीलिये उसके उदर से छुटते ही दर्द जाता रहता है। वास्तव में यहां पर चूरन लाला श्राव के लिये उत्तेजना का काम देता है। स्वयम् वह इतना लाभकारी नहीं, जितने पाचक रस। यह तो सारवान् वस्तु के अधिक खाये जाने का विकार हुआ। अब भोजन के और अंशों से उत्पन्न होने वाले विकार देखिये।

## अस्रजनीय भोजन और विकार।

एक व्यक्ति ने कभी मांस छुआ तक नहीं था, वह तिब्बत की यात्रा में मेरे साथ हो लिया। भूटान पार करते ही मास के सिवाय निर्वाह कठिन हो गया, मेरे समझाने पर उसने मांस खाया, किन्तु भोजन करने के कोई ढेढ घण्टे बाद पेट में दर्द शुरू हो गई, जो सारे दिन बनी रही। रात्री को कब्जकुशा औषध दी, प्रभात में जब वह शौच गया तो कई छोटे २ मांस खण्ड देखे गये। उसने आकर बतलाया; किन्तु हमने कोई विशेष ध्यान न दिया। उसने फिर अगले दिन मांस खाया, फिर पहिले दिन की सी दशा हुई। और अब की यह दर्द ठहर गया, दर्द आमाशय में था। उसने उस दिन से एक सप्ताह तक मास न खाया, किन्तु दर्द न गई। एक सुरक्षित स्थान पर ठहर कर उसे तीव्र रेचन औषध दी, फिर दो मांस खण्ड निकले और दर्द जाता रहा। उस समय मुझे अनुभव हुआ कि मांस को पूर्ण-तया पचाने की इस में शक्ति नहीं। उसके पश्चात् उसे प्रथम मांसरस (यूष) देना आरम्भ किया तथा कभी २ थोड़ा २ मास भाग भी दे देता था। कुछ समय में उसकी प्रकृति में परिवर्त्तन आगया, फिर वह अच्छी प्रकार मास खाने लगा। इसका कारण क्या था ? इस में मुख्य कारण अस्रजिद पदार्थों को पचाने वाले रसों की परिमितता तथा अस्रजिद भाग की अधिकता थी, मास प्रतिशत का प्रति-शत भाग अस्रजन रूप होता है। जो मनुष्य शाकाहारी हैं, उन को दाल मे ही

उक्तभाग अधिक मिलता है। इस में अधिक से अधिक २०-३०प्रतिशत अस्रजन रहता है, जिस को पचाने के लिये उसके अनुकूल ही रस बनता है, यह परिमित मात्रा उसके खान पान व प्रकृति के अनुकूल बनी हुई थी, ऐसी अवस्था में उसे एकाएक विशेष अस्रजनीय भोजन दिया गया, जिस में सौ प्रतिशत अस्रजन था। अब पाचक रस तो २० या ३० प्रतिशत अस्रजन पचाने की शक्ति का निकलता था, किन्तु हमने अस्रजनीय भोजन सौ प्रतिशत शक्तिवाला दे दिया, तो भला वह किस की शक्ति से पचा जाय; उदर कोई ज्वाला मुखी तो नहीं। यह अवस्था अधिक चने खाने से या और कोई अधिक दाल के खाने से भी उत्पन्न हो जाती है। यह विकार आमाशय में भी उत्पन्न होता है, और अन्त्राशय में भी। अन्त्राशय में यदि ग्रहणी रसों का अस्रजिदीय पाचक रस यदि आगत अस्रजिद अश को पचाने के लिये तत्तुल्य न हो तो, अन्त्राशय में भी वही विकार उत्पन्न हो जाता है। और दर्द आदि उपद्रव देखे जाते हैं।

## ऊष्मीय भोजन और विकार।

स्नेही (उदूकज्जलिद) शार्करी (कज्जलोदिद) जिन से शरीर में ऊष्मा उत्पन्न होती है जैसे शक्कर, घृत आदि। यह वस्तुएं अधिक खाई जाने पर आमाशय या अन्त्राशय में कोई विशेष विकार उत्पन्न नहीं करतीं। प्रत्युत जब मात्रा से अधिक खाई जाँय तो बिना पचे ही मल के साथ निकल जातीं हैं। हा! जो पच जाती हैं, उसका बुरा प्रभाव शरीर के और भागों में अवश्य देखा जाता है। हा कभी २ यह स्नेही पदार्थ उदर में अधिक देर ठहर जाँय तो एक प्रकार का ऐसा अम्लीय रूप धारण करने लगते हैं जो शरीर के अयोग्य होता है, उससे अन्त्राशय में दाह अवश्य होता है।

## पाचक रसों की कमी और विकार।

बहुत से व्यक्ति थोडा सा भोजन करके भी नहीं पचा सकते, भोजन

करने के पश्चात् भोजन का समय पर न पचना, एक दफा खा लेने पर शाम को रुचि न होना, यह चिन्ह प्रायः पाचक रसों की न्यूनता के हैं। पर इस तरह कभी प्रायः पाचक रसों में एकाएक न्यूनता नहीं आती। हां किसी बीमारी की अवस्था में तो ऐसा हो जाता है। परन्तु, उस तरह प्रायः जिस पाचक रसोत्पादनी ग्रन्थि में विकार हो रहा हो तो वही रस प्रायः न्यून हो जाता है। ऐसे समय में वैद्य भिन्न २ भोजन देकर इस बात का पता लगा लेते हैं कि किस भोजन के खाने से यह त्रुटि आती है। जब लाला रस की न्यूनता हो तो भार भाग नहीं पचता, उदरी रस की न्यूनता हो तो अम्लजिद् अंश नहीं पचता। पित्त रस न्यून हो तो उदकज्जालिद (स्नेही) अंश नहीं पचता, और जब क्लोम रस में न्यूनता हो तो कज्जलौदिद (शार्करी) अंश नहीं पचता। तथा उक्त तीनो ही के मिश्रणों की कमी हो तो अन्त्राशय में पूर्ण परिपाचन नहीं होता। ग्रहणी रोग में प्रायः उक्त ग्रहणी रसों (क्लोम रस, पित्त रस) की न्यूनता ही प्रधान कारणों में से होती है। इसीलिये भोजन जब आमाशय से चलकर अन्त्राशय में पहुचता है तो वहां पहुचने पर उसका परिपाचन अच्छी तरह नहीं होता, अन्त्राशय की धारण शक्ति इस को अधिक समय तक रोकने में असमर्थ रहती है। इसीलिये जहा वह अपरिपच्य लेही बृहदान्त्र में जाती है, वह भी उस को अपनी सीमा से शीघ्र बाहर करने का प्रयत्न करती है, इसीसे अपक्वलेही मल मार्ग से शीघ्र द्रवरूप में निकाल दी जाती है। इसमे भिन्न उक्त पाचक रस की न्यूनता से भी उदर में दर्द, दाह आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

## अयोग्य निर्बल पाचक रस और विकार।

जब पाचक रसों में न्यूनता हो जाय या पाचक रस निर्बल बनने लग जाय अथवा पाचक रसोत्पादक ग्रन्थियों के विकृत होने पर जिस प्रकार

का रस बनना चाहिये न बने, या कुछ का कुछ बनने लग जाय, तो यह त्रुटियां प्रायः पाचक रसोत्पादक अंगों की विकृति के कारण समझी जाती हैं। पाचक रस जब अयोग्य ( कुछ के कुछ ) बनने लग जाते हैं या उक्त रसों में पाचनी शक्ति कम हो जाती है, तो भोजन करने पर उक्त अहार का उचित परिपाचन नहीं होता। पच्य लेही व परिपच्य लेही बनने के समय ठीक २ नहीं बनती; हमारे शरीर के पाचक रस किसी कारण से चाहे न्यून बन रहे हों। निर्बल बने रहे हों, या विद्रूप बन रहे हों। अथवा पाचक रस तो ठीक हैं पर भोजन अधिक गरिष्ट हो या अधिक खाया गया हो, उक्त पाँचों बातों में से कोई भी बात हो भोजन पचने में प्रायः एक ही परिणाम होता है। वह किसी न किसी विकृति को प्राप्त होता है, अथवा विकृति रहित रहे तो उसी तरह कष्ट का कारण बनकर पाचक यन्त्र से बाहर निकाल दिया जाता है। जो विकृति रहित रहकर बाहर कर दिया जाता है वह शरीर के लिये इतना हानिकर नहीं होता। किन्तु, जिसमें विकृति उत्पन्न हो जाय, उससे ही सारे शरीर में विकार उत्पन्न होते हैं। जिस भोजन पर पाचक रसों का पूर्ण प्रभाव न हो, ऐसा भुक्त पदार्थ बहुधा उसी रूप में नहीं रहता। वह उदर दरी में जाते ही प्रायः स्वभाव से विकृति को प्राप्त होने लगता है। यह किस तरह? हम देखते हैं कि कोई भी वस्तु जब टुकड़े २ करके जल में छोड़ अग्निके समीप रख दीजाती है तो वह वस्तु अग्नि के उत्ताप से गलने लगती है। उसके कई अंशघुलते हैं, कई अंश अनघुल रहने पर भी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य आता है धीरे २ उसका वह रूप, गुण, स्वाद सब बदल जाता है। इसमें हम उक्त परिवर्त्तन तो केवल उत्ताप प्रभाव से ही देखते हैं। परन्तु, जब कोई वस्तु जल छोड़कर उसमें और कोई रसायन परिवर्त्तनकारी पदार्थ मिला देते हैं तो उक्त परिवर्त्तन और भी अधिक बढ़ा हुआ दिखाई देता है। हमारे देखते २ उसके प्रत्येक अणु,

गलने, घुलने, और सड़ने लगते हैं और धीरे २ यहां तक होता है कि उसका असली रूप विलीन हो जाता है। यह दृश्य तो हम प्राय: जैवी पदार्थों में देखा ही करते हैं। जिस तरह एक जैवी पदार्थ उत्ताप और रसायनकारी सजीव निर्जीव वस्तुओं को सस्पर्श से अपने असली रूपको छोड़ कर अनेक प्रकार की शकलों में बदल जाता है। ठीक इसी तरह की क्रिया हमारे उदर में भी होती है। भुक्त पदार्थ शरीर के उत्ताप व रसायन कारी पदार्थों के मिलने से विकृतिको प्राप्त होने लगते हैं। यदि भुक्त द्रव्य में रसायनकारी पाचक पदार्थ अपने असली रूप में हैं और ठीक २ मिल गये हैं, तब तो उन के मिलने से भुक्त पदार्थ में रसायनिक परिवर्त्तन ठीक होगा; शरीर के योग्य होगा। यदि ऐसा न हुआ पाचकरस निर्वल था विकृत रूप में हुए या इतनी मात्रा में हुए कि समग्र भोजन के लिये उपयुक्त नहीं तो ऐसी अवस्थामें भुक्त पदार्थ पर जो रसायनिक परिवर्त्तन आवेगा, वह पूरा २ शरीर के योग्य न होगा। उदाहरण—एक व्यक्ति ने दाल और रोटी खाई, खाते समय इतनी शीघ्रता से खाई कि रोटी दान्तों से पीसी न गई। उधर शीघ्रता के साथ भोजन करने से उदरी रस भी न निकल पाये; भोजन करते ही इससे पेट में कुछ देर बाद एक तो दर्द शुरु हो जायगी। जैसे तैसे चूरन आदि खाकर उस दर्द को रोका गया। पर उक्त भोजन का सार और अस्नजिद भाग का पचन तो अच्छी तरह नहीं होगा। यह आगे अन्त्राशय में धकेल दिया जायगा, वहां पहुंचने पर यदि ग्रहणी रसों का भी पूर्ण प्रभाव नहीं हुआ तो ऐसी अवस्था में उसका जो भाग पाचक रसों के प्रभाव में आचुका है वह तो पचकर शरीर के योग्य वस्तु में परिवर्त्तित होगा, जो पाचक रसों के प्रभाव से बच रहा है उसपर कुछ विकृत पाचकरसों के मिश्रण से और कुछ अन्त्रस्थ नैवों की शक्ति से भिन्न ही प्रकार के रसायनिक रूपों में परिवर्त्तित होने लगेगा। आप देखते हैं कि जिस व्यक्तिको भोजन करने के पश्चात् अजीर्ण हो जाता है, तो उसे उद्गार अधिक

आते हैं और खट्टे आते हैं। यह क्यों ?। उद्गारों का आना इस बात की सूचना है कि भोजन उदर दरी में विद्यमान है, उसमें ऐसे रसायनिक परिवर्त्तन आरम्भ हो गये हैं, जो शरीर के अयोग्य हैं। उस समय जो रसायनिक विकृति के कारण कई प्रकार की वाष्पों का उद्गम होने लगता है, जैसे २ वाष्पों का रसायनिक रूप बनता जाता है हल के होने के कारण वह उद्गार से निकलता रहता है। उद्गार में निकलने वाली वाष्प का बनना इस बात की स्पष्ट सूचना है कि उदर दरी में पचन क्रिया विगड़ गई है। उदर से आहार आगे चल कर जब अन्त्राशय में पहुंचता है, यदि वहा विकृति पचन का क्रम चल रहा हो तो अपान वायु का उत्थान होने लगता है, कई प्रकार का गन्धपूर्ण वाष्प का निःस्सरण होता है। यह एक साधारणसा दृष्टान्त है। पचन क्रम के विगड़ जाने पर उदर दरी से लेकर वृह-दान्त्र तक अनेकों प्रकार के विकृत पदार्थ बनते हैं, यही विकार के कारण हैं जिन का वर्णन आगे किया जायेगा।

## विकृति पदार्थों का शरीर में प्रवेश व विकार रूप।

कोई भी वस्तु जो खाई जाती है चहे वह ठीक तौर से पचे या विकृत रूप में पचै, भिन्न २ तो रहती नहीं, स्वकृति और विकृति दोनों ही प्रकार के रसायनिक रूपों का जहा पर मिश्रण हो, उसको पूर्ण तया विभाजन करना अर्थात् स्वकृति रूप को ग्रहण करना और विकृति रूप को बिलकुल छोड़ देना यह पूर्णतया शोषक या आचूषक नहीं कर सकते। किसी तरह का भी रसायनिक विभाजन उसी तरह कठिन है, फिर अन्त्राशय जैसे स्थान पर आचूषकों द्वारा यह पूर्णतया होना या आशा रखना कि वह अवश्य विश्लेषण करके स्वकृति रूप को ही स्वीकार करते होंगे और विकृत रूप को छोड़ देते होंगे, असम्भव है। इस में कोई संशय नहीं कि आचूषक इस बात का परिज्ञान रखते हैं कि शरीर को उक्त संमिश्रत वस्तु में से किस की आवश्यकता है, और किस को ग्रहण

करना है, इतना जानते हुए भी वह उसे पूर्णतया विश्लेषित रूप को ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं। जिस तरह एक निर्बल व्यक्ति के घर में बलवान् व्यक्ति घुस आता है और निर्बल के अनेक प्रयत्न करने पर भी रोका जा नहीं सकता। ठीक यही दशा विकृत रूपों की शरीर में प्रवेश के समय होती है। यह विकृत या दोष कई प्रकार के विषाक्ततरल रूप धारी होते हैं, जिन की उग्रता व तीक्ष्णता से आचूषकों की बुरी अवस्था हो जाती है, उन की कार्य कारणी शक्ति बहुधा विवेक हीन हो जाती रहती है। दूसरे वाष्पीय पदार्थ हलके और इतने सूक्ष्म होते हैं कि वह तरल की अपेक्षा बहुत जल्दी शरीर में घुसते चले जाते हैं, उसका दबाव व गति शीलता इतनी अधिक होती है कि रोकना कठिन हो जाता है; इसका सब से अच्छा उदाहरण विष्टब्धता के समय सिर दर्द है। इस सिर दर्द का कारण यह होता है कि जा मल कुण्डुमस्थान पर पहुँच कर नहीं निकलता, रुक जाता है, तो उस समय जो वाष्पीय पदार्थ विशेष रूप से बनने लग जाते हैं। वह इतने अधिक होते हैं कि शीघ्र ही आचूषकों द्वारा रन्ध्रमार्गमे प्रवेश करने लग जाते हैं, और हलके होनेके कारण शरीरमें धँस जाते हैं। और वह रक्त द्वारा बड़े प्रबल वेग से मस्तिष्क की तरफ पहुचने लगते हैं, जिससे उसी समय सिर भारी होकर दर्द करने लगता है। किन्तु जहा उक्त मल बाहर हुआ। सिर हलका होने लग जाता है और तकलीफ जाती रहती है।

## दूषित पदार्थों के बनने का प्रधान कारण—

संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं देखा जाता जिसके शरीर में किसी न किसी वर्गके जैवों की विद्यमानता न पाई जाती हो। किसी भी मनुष्यका मलाशय जैवों से शून्य नहीं देखा गया। यह मलाशय में ही नहीं बृहदान्त्र, क्षुद्रान्त्र और आमाशय तक में पाये जाते हैं। यह जैव अनेक जाति के होते हैं। इन में से कई मृत शरीर, मल, विष्टामें रहने वाले, कई मिट्टीमें रहने वाले होते हैं। कई पर प्राणियों

के सजीव शरीर में रह कर अपना जीवन क्रम चलाते रहते हैं। जो जैव मृत शरीर, मल, विष्ठा, आदि पदार्थों में रहते हैं, और वही जिन का खाद्य होता है, जब यह उक्त पदार्थों में घुसकर उस को खाने लगते हैं तो इन के खाने से उस में रसायनिक-परिवर्त्तन प्रारम्भ हो जाता है, और उस पदार्थ का वह रूप बदलने लगता है, उसके कण टूट २ कर उन से अनेक वाष्पीय पदार्थ तथा कई तरल यौगिक बनने लगते हैं। जिनके कुछ नाम निम्न हैं यथा—गन्धिन—Ammonia दुर्गन्धिन Ammonia Suphid गन्धिद, Indol दुर्गन्धिद Methyl Indol गन्धित, Sketol महागन्धित, अतिगान्धित, तीव्रगन्धित, उग्रगन्धित, आदि वाष्पीय। तथा उग्री, अस्थुग्री, श्लेपुग्री. वातुग्री, उष्णुग्री, शुष्कुग्री, जैवारि, प्राणारि, रक्तारि, मांसारि, कोषारि इत्यादि तरल हैं। यह वाष्पीय व तरल पदार्थ शरीर को दूषित करने के कारण दोष या मल कहलाते हैं। यही प्रायः भोजन की विकृति से उत्पन्न होते हैं। और अनेक साधारण व्याधियों के कारण बनते हैं। उपरोक्त दोष या मल जब उत्पन्न होने लगते हैं तथा शरीरमें प्रवेश करने लगते हैं, वास्तव में शरीर को उसी समय इन का ज्ञान हो जाता है। अनेक वाष्पीय दोषों के जनित होने पर वह सब शरीर में समा नहीं जाते। प्रत्युत उनका अधिक भाग मुंह से उद्गार द्वारा व गुदा से अपान के रूप में निकलने लगता है। अजीर्ण होने पर वारम्बार उद्गार आना और अपान का होते रहना और दुर्गन्धपूर्ण अपान वायुका होना इस के प्रकट चिह्न हैं। इस से भिन्न शरीर का भारी व शिथिल रहना दर्द जोड़, उत्तापाधिक्य, शुष्कता, आदि का शरीर में बढना इस बात की सूचना है कि शरीर में किसी न किसी प्रकार के वाष्पीय या तरल दोष या विकृत पदार्थ उत्पन्न हो रहे हैं। इससे शरीर की स्वभाविक कार्यशक्ति में बाधा आरही है और अस्वभाविक क्रियाएं उत्पन्न हो गई है। किन्तु बहुधा लोग इन दोषों की ओर ध्यान नहीं देते, इसी से उक्त दोष जड़ पकड़ने लग जाते हैं, और वह धीरे २

उदर में अपना स्थान वना लेते हैं।

## पचन विकृति से दोषों की स्थिति

जिस समय भोजन की अधिकता से या पाचकरसों की निर्वलता व न्यूनता से भुक्त पदार्थ में शरीर के अयोग्य रसायनिक कार्य आरम्भ हो जाते हैं, यदि उस समय इसको रोक दिया जाय, तो शरीर को कोई विशेष हानि नहीं होती। परन्तु सिर दर्द होने पर सिर दर्द को साधारणसी वात समझ कर छोड़ दिया जाय, और जिस कारण से इस का उत्थान होता हो उस को दूर न किया जाय, तो कुछ समय के पश्चात् सिर दर्द की वृद्धि होने लगती है, इसीसे धीरे २ दर्द ठहर जाता है। दर्द का ठहरना, या शरीर में और दूषी चिह्नों का दिखाई देकर वढना, इस वात की सूचना है कि उक्त चिह्नों के वढने का प्रधान कारण उदरस्थ रसायनिक क्रिया में वाधा या दोषों की दृढ़ स्थिति है। आरम्भ में तो पचन त्रुटि का प्रभाव साधारण होता है, क्योंकि एक तो नीरोगता के कारण शरीर की शक्ति बलवान् रहती है, दूसरे इस त्रुटि के प्रभाव से शरीरावयव या शरीराग विकारी नहीं होते। परन्तु, जव उक्त त्रुटि या दोषों के जनन का क्रम वना रहता है तो उक्त दोषी पदार्थों के सदा शरीर में प्रवेश करते रहने के कारण प्रायः शरीर के भीतरी अग सर्व प्रथम निर्वल व शक्तिहीन होने लगते हैं। इसका सव से प्रथम प्रभाव फुफ्फुस, हृदय, यकृत, प्लीहा, वृक, क्लोम, व और पाचक ग्रन्थियों पर पड़ता है। शरीर में सव से पूर्व उक्त ग्रन्थियां ही दूषित होती हैं। यह क्यों ? एक तो उक्त ग्रन्थियां उदर दरी या अन्न-प्रणाली के समीप हैं, दूसरे उक्त अंगों की रचना भी कोमल प्रकृति की है। तीसरे इनका शरीर में कार्य विभाग अधिक वढ़ा हुआ निगूढ़ होता है। क्योंकि वास्तव में देखा जाय तो सारे शरीरावयवों के जीवन का भार प्रायः इन्हीं पर अवलाम्वित है। उक्त अंगों में से किसी एक अंग में भी कोई दूषण उत्पन्न हो जाय, तो सारे शरीर में एकदम उक्त दोष के चिह्न

दिखाई देने लग जाते हैं, और साराका सारा शरीर अपनी कार्य-शक्तिमें शिथिलता
के चिन्ह दिखाने लगता है। वास्तवमें शरीर रूपी इञ्जन के यह मुख्य पुरजे हैं।
जिस तरह इन्जन के एक पुरजे के बिगड़ जाने पर सारा का सारा इन्जन चलने से
रह जाता है, इसी तरह शरीर का हाल होता है। अन्न प्रणाली के दूषित होने का
इतना प्रबल प्रभाव शरीर पर नहीं होता, जितना उक्त अगों के दूषित होने का।

जिस समय उदरस्थ दोषों का उत्थान आरम्भ हो जाता है यदि वह शरीर
में प्रवेश करते रहें तो उनका सर्व प्रथम प्रभाव रसोत्पादनी ग्रन्थियों और
रक्त संशोधनी ग्रन्थियों पर होता है। इसका सर्व प्रथम चिन्ह उनके क्रियात्मक
कार्य के बिगड़ने से आरम्भ हो जाता है। अर्थात् दोषों का प्रभाव जिस किसी ग्रन्थि
पर पड़ता है उसका उक्त क्रम बिगड जाता है। उदाहरण के लिए आप यकृत
को ले लीजिए। शरीर में यकृत के कई कार्य हैं, सर्व प्रथम एक तो यह पित्त
नामक पाचक रस को उत्पन्न करता है। इस पित्त में एक नहीं कई प्रकार के
मिश्रित पदार्थ होते हैं। यथा—लेही पाचक रसोत्पादक, दुर्गन्ध नाशक, मल
सारक इत्यादि। दूसरे इस से भिन्न यकृत का प्रधान कार्य शरीर के लिए
स्वयम् शर्करा का कण्ट्रोल है; यदि अधिक भोजन विकार से उदर में दोषों
का उत्थान आरम्भ हो जाय और उक्त दोषों का किसी कारण से अधिक प्रभाव
यकृत पर पडे, तो इसकी उस समय वही दशा होती है। जैसी किसी आदमी की
विषाक्त गैसों में फंसकर या किसी और सकट में पड़ कर। जिस तरह मनुष्य
किसी संकटापन्न अवस्था में पड़ जाता है तो उसकी मति, उस के विचार
प्रज्ञा हीन हो जाते हैं, और उस सकट के समय इतना मति भ्रम होता है कि
उसे कुछ नहीं सूझता, यही अवस्था उस समय यकृत की होती है। जिस समय
कोई दूषी पदार्थ उस के भीतर जबरदस्ती घुस कर कष्ट का कारण बनते हैं।
क्योंकि यह दूषित पदार्थ या मल विष रूप होने के कारण यकृत के सजीव

अवयवों को अपने स्पर्श से व अपनी विषाक्त शक्ति से नष्ट करने लग जाते हैं। जिस विषाक्त शक्ति का प्रभाव शरीर के लिए नाशक हो, उसको कौन ऐसा जीव है जो अपने पास फटकने देगा। परन्तु जब वह जबरदस्ती घुसने लग जाय तो प्रबल शक्ति के आगे निर्बल की क्या पेश जा सकती है। ऐसे ही समय एक और जब कि यकृतावयव शरीर के लिए अनेक प्रकार के अवश्यक पदार्थ बना रहे हों। दूसरी ओर अपना कण्ट्रोल भी कर रहे हों संकट आ जाय तो सब से पूर्व उनका काम यही होता है कि अपने को संकट से बचावें। उस ममय जब सकट से बचाने का कार्य आरम्भ किया जाता है तो उस अवस्था में उचित आवश्यक पदार्थ बनाने के समय रक्तस्थ शर्करादि का कण्ट्रोल कठिन हो जाता है। यदि वह ऐसा करें तो दूषी पदार्थों से बचाना कठिन हो जाता है। इन्हीं दो तरफा सकट में प्रायः दूषी पदार्थों को अपनी स्थिति बनाने के लिए समय मिल जाता है। जिस अग को यह निर्बल पाते हैं–अर्थात् जो अंग निर्बल होते हैं, उक्त दूषित पदार्थों को रोकने में असमर्थ होते हैं—उन्हीं अंगों में यह घुस कर अपना घर बनाना आरम्भ कर देते हैं। इसी से उक्त अगों में निम्न लिखित विकार उत्पन्न होते देखे जाते हैं।

(१) प्रथम विकार सचय अर्थात् उक्त अंग का विवर्द्धन व शोथ।

(२) उक्त विकार या दोष संचित होने के कारण वहा जो सघर्ष होता है उससे उत्ताप का बढ़ना या दाह।

(३) दोष सचय और दाह जब बढता है तो उस से उक्त अग के अवयवों का नाश आरम्भ हो जाता है। अवयव नाश से उक्त अग क्षीण होने लगता है, इससे उसकी कार्य शक्ति घट जाती है। यह अवस्था उस समय आती ह जब दोषों का प्राबल्य होता है।

उक्त दोषों का प्रभाव जिस २ अंग पर बढ़ता जाता है उस २ अंग में प्रायः शोथ, काठिन्यता, कार्यक्रम में व्याघात और दाह आदि विकार तो उस समय तक बने रहते हैं, जब तक उक्त दोष का प्रभाव न घटे। किसी व्याधि की शरीर में स्थिति का प्रधान कारण ही उक्त दोषों का शरीर के किसी न किसी अंगों में बना रहना और उसको विकृत बनाये रखना है। जब तक शरीर का कोई भी अंग विकृत बना रहेगा कभी भी व्याधि के चिन्ह दूर नहीं होंगे, न शरीर निरोग होगा।

---

## दूषी निर्दूषी शरीर।

हम जो कुछ खाते हैं, इस भोजन में से हमारे शरीर को कौन २ सी वस्तु की आवश्यकता है? इस बात को देखने के लिये हमारे पास कोई यन्त्र या पैमाना नहीं। न हम सही तौर पर यह जान सकते हैं कि इस समय हमारा शरीर किस २ उचित वस्तु को माग रहा है। हमारे पास क्षुधा और प्यास की इच्छा रूपी जो पुराने व मोटे पैमाने हैं, वह इतने साधारण हैं, कि जिससे हम यह ठीक २ तौर पर नहीं बता सकते कि इस क्षुधा से शरीर शार्करी पदार्थ माग रहा है या स्नेही, या मण्डमयी। तृषा के समय इसे शर्बत चाहिए या थोड़ा सा केवल जल।

मनुष्य का शरीर जब निर्बल हो जाता है, तो शरीर की कौन २ सी वस्तु घट गई हैं, जिस के कारण शरीर निर्बल हो रहा है, और इस को कौन सी वस्तुओं से पूर्ण किया जा सकता है। इसका कोई वास्तविक ज्ञान नहीं होता। रोगी से केवल पूँछ कर या अन्दाज़ (अनुमान) से इस बात का विश्वास कर लेते हैं, कि इस के शरीर में अमुक वस्तु घट गई है। यथा—एक निर्बल

व्यक्ति विशेष विषय के कारण निर्बल होगया है, तो उसके बतलाने पर ही वीर्य-क्षीणता की निर्बलता का निश्चय कर लिया जाता है। और इसीलिये वीर्य को पुष्ट करने वाली औषध निश्चित कर दी जाती है। परन्तु, साथ में जो वीर्य को पुष्ट करने वाली औषध या पथ्य दूध, घी, मांस-यूष, आदि दिये जाते हैं, वह केवल वीर्य-क्षीणता को ही दूर नहीं करते। प्रत्युत शरीर के प्रत्येक भाग को उतनी ही पुष्टता देते हैं, जितनी वीर्य को। पर इस तरह का ज्ञान व उपचार कोई ठीक नहीं; न सही है। कई वार हम देखते हैं, कि एक मोटा ताजा मनुष्य जिसके शरीर में वसा की एक नहीं कई २ तह चढ़ी हुई हैं, उसको वीर्य क्षीणता होती है। उस अवस्था में उसे दूध, घृत जब साथ में दिया जाता है तो उसके शरीर में और वसा बढ़ने लगती है, जिस से उसे लाभ की अपेक्षा हानि पहुचती है। बेचारा चलने, फिरने से भी रह जाता है।

इसी तरह—जब शरीर में मांस घट गया हो, उस समय चाहिये तो यह कि केवल शरीर के मांस वर्द्धक पदार्थ दिये जांय, जिससे मास क्षीणता दूर हो जाय। पर हमारे पास इस बात को जानने के पूर्ण साधन न होने से कि इस को क्या २ दिया जाय—हम उसको दूध, घी, मांस आदि प्रत्येक प्रकार के पौष्टिक पदार्थों की योजना कर देते हैं। इस में कोई संशय नहीं कि जितनी अधिक हम खान पान द्वारा भूलें करते हैं, इतनी भूल हमारे शरीर के भीतरी अवयव नहीं करते। यद्यपि अनेकों वार हम देखते हैं कि जब हम अधिक स्नेही पदार्थ खा लेते हैं तो शरीर बहुत कुछ उक्त स्नेही पदार्थ को उसी रूप में मल मार्ग से निकाल देता है, और मण्डमय व अस्रजन भाग वमन या रेचन से बाहर ,कर दिये जाते हैं। फिर भी हमारी ज्यादती, हमारा अनुचित खान पान-व्यवहार उनको जबरदस्ती परिपाचन करने के लिये विवश कर देता है।

जिससे लाचार इन्हें भी इस में सहयोग देना ही पड़ता है। उस समय क्या होता है?—जिस समय किसी चीज की शरीर को आवश्यकता नहीं, हर समय शरीर में बारम्बार वह पहुंचायी जाय, तो उसका परिणाम यह होता है कि शरीर में दोषों से भिन्न एक वृद्धि-दोष और उत्पन्न हो जाता है। जिस व्यक्ति के शरीर में आवश्यकता मांस विवर्द्धन की है, उसको आवश्यकता से अधिक नित्य घृत, मक्खन, मलाई का सेवन कराया जारहा हो, तो ऐसी अवस्था में शरीर बहुत कुछ उसको मल मार्ग से निकालता रहता है। जो आचूषित होकर रक्त में पहुंच जाता है उसको शरीर परिवर्तित करके मांस और त्वचा के मध्य पहुंचता रहता है। जिसकी तह प्रथम उन स्थानों में जमने लगती हैं, जहां शरीर भाग अधिक गति शील नहीं होता। जैसे—उदर, कुक्षीस्थान, नितम्ब, जघन देश आदि। यद्यपि वसा कष्ट काल या अकाल के समय में शरीर के सारवान् वस्तु व शर्करा की कमी को पूर्ण करती है। और भोजन रहित समय में काफी वक्त तक मनुष्य जीवन को बनाये रखने में सहायता देती है। तथापि स्वास्थ्य की दृष्टि से इसकी अधिकता हानिकर है। जब शरीर में वसा अधिक बढ़ने लगती है तो सार रूप में संचित होने से भिन्न प्रत्येक जीव-कोषों में भी इसकी मात्रा बढ़ जाती है। जिस से जीव-कोषों का जीवाद्यम वसामय हो कर फूल उठता है, और जीवाद्यम के अधिक वसामय हो जाने पर वह अपने कार्य व्यवहार में उसी तरह असमर्थ हो जाते हैं, जिस तरह एक अधिक मोटा आदमी।

जीव कोषों में इस प्रकार के बढ़ने वाले विकार को वसामय विकार या वसा दोष कहते हैं। जिस व्यक्ति के शरीर में मास घटा हुआ था उसको अधिक वसामय वस्तुएं दी गई, इसके परिणाम स्वरूप शरीर मोटा हो गया। देखने वाले ने देखा, कि यह तो खूब हट्टा कट्टा हो गया है। वह भी देखता

है कि मैं मोटा होगया हूं। पर जब वह दौड़ धूप का काम करता है या अधिक मेहनत का काम करता है, जहां मांस पेशियों की सहायता से काम होता है तो उससे उस समय उक्त काम नहीं किये जाते। उस समय उसको अपनी निर्बलता का अनुभव होता है। परन्तु उस वेचारे को हट्टा, कट्टा देख कर सुनता कौन है। सब यही कहने लग जाते हैं कि यह काम चोर है, और कुछ बात नहीं। वास्तव में भोजन का पैमाना ठीक न होने की हम अपनी गलती या भूल को नहीं देखते, दूसरों को दोषी ठहरा देते हैं।

जिस तरह हमने ऊपर वसावृद्धि दोष दिखाया है, इसी तरह शरीर में भोजन का पैमाना ठीक न होने से मास-वृद्धि-दोष, अस्थि-वृद्धि-दोष, शर्करा-वृद्धि-दोष आदि और भी कई दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जो मलोद्भव दोषों के तुल्य ही शरीर के लिये हानिकर हैं। यह सब अयोग्य पदार्थों के बढ़ने व शरीर में संचित हो जाने से जो शरीर में विकार उत्पन्न होते हैं इन सबका वर्णन यहां नहीं दिया जा सकता। इन सब बातों का विस्तृत वर्णन व्याधि-मूल-विज्ञान में दिया है। यहां तो केवल इतना ही दिखाना है कि इन विकारों से जीवाणु व कीटाणु जन्य व्याधियों को किस तरह सहायता मिलती है, तथा उस जैव-जन्य व्याधियां किस तरह प्रबल हो जाती हैं। जब हमारे पास कोई भी ऐसा पैमाना नहीं, कि जिससे आवश्यक भोजन का परिमाण निकाल सकें, तो हमें जो कुछ रुचि के अनुकूल मिल जाता है हम खा लेते हैं। तथा बहुधा उतना खा लेते हैं, जितनी पेट में समाई होती है। यह आप जानते हैं कि इस भोजनीय पदार्थों में सारा का सारा भाग ऐसा तो होता नहीं, जो सबका सब शरीर के लिये लाभदायी पौष्टिक व सुखकर हो। प्रत्युत

> **जड़ चेतन गुण दोष मय विश्व कीन्ह करतार।**
> **सन्त हन्स गुण गहहिं पय परिहरि वारि विकार॥**

इसी तरह भोजन में भी प्रत्येक तरह के गुण दोष मय अंश होते है उस में से शरीर गुण २ अर्थात् आवश्यक २ वस्तुओं के लेने का प्रयत्न करता है। पर आप यह न समझें कि वहां कोई दूषित अंश न जाता होगा, यह बात नहीं। कुछ न कुछ चला ही जाता है। इससे भिन्न जो भोजन का अवशेष अंश बचता जाता है, उसमें जो विकृति ( रसायनिक परिवर्तन ) होती है इसका भी सूक्ष्माति सूक्ष्म अंश शरीर में प्रवेश करता ही रहता है। भलेमानुष को तो घर में घुसने से सब कोई रोक सकता है, पर चोर डाकू को कौन रोके। यह जबरदस्ती शरीर में घुसते ही रहते हैं, इनका रक्त में प्रवेश करके शरीर में विद्यमान रहना ही शरीर को जीर्ण शीर्ण करने तथा उसको क्षति पहुंचाने में बड़ा भारी काम करता है। छोटे २ बालक जिन्होंने अभी२ संसार में प्रवेश किया है। जिनका शरीर परिशुद्ध है, माता पिता के अनियमित अहार देने से देखते २ दूषित होता है। जिसके शरीर में बल, पौरुष, अंग, उपांग सब कुछ बढ़ने वाले हैं वह सब बढ़ने की अपेक्षा घटने लग जाते हैं। और देखते २ कुछ दिनों में बालक क्षीण होकर जरजर हो जाता है। ऐसी अवस्था में जीवाणु व कीटाणु उस के निर्बल शरीर को पाकर धर दबाते हैं। और बात की बात में उस के सुकुमार कलेवर को अपना अहार बनाकर उसे यमपुरी भेज देते हैं।

खाद्य, पेय विकार से उदर में ऐसे २ विषाक्त पदार्थ बनते रहते हैं, उनका इतना प्रबल जहर होता है कि वह संखिया की तुलना करते हैं। वास्तव में क्षुद्रान्त्र से लेकर बृहदान्त्र तक का जो हिस्सा है वह ऐसा हिस्सा है, कि इसमें कोई न कोई विकारी अंश फंसा ही रहता है। पशुओं का अन्त्राशय तो साफ हो जाता है, पर मनुष्य का—उनमें भी शहरियों का जो सदा पौष्टिक व गरिष्ट वस्तुओं को दिन रात्री भेड़, बकरी के मानिन्द चरते रहते हैं—कभी शुद्ध नहीं होता। इनका अन्त्राशय वास्तव में गन्दे कूड़े का यन्त्रालय होता है। जिसमें

हर समय ही नई २ दुर्गन्धि पूर्ण वाष्पें या विषाक्त पदार्थ बनते रहते हैं। जहां खँमीरण—विकृत रसायनिक—पदार्थ—जनन, विषोत्पादन आदि स्वभाविक होने लगते हैं। और वहां पर कीटाणुओं का निवास होजाता है, जहा गन्दा मल जमा हो, जहां अयोग्य पदार्थ संग्रहीत हो, वहा आमोत्पादन, शोथोत्पादन, प्रदहन, क्षतन नाशन आदि विकारों का उत्पन्न होना बड़ी साधारण बात होती है। जब लगातार कोई विष या विकारी पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं जिनको शरीर का स्पर्श दुखदायी या मारक हो, तो उसका परिणाम उन के लिये क्या होगा? यही कि शरीर के जिस २ अवयवों को वह स्पर्श करेगा, जिस २ को भेदकर अन्दर घुसैगा, उस २ में शोथ, दाह, नाश आदि की क्रिया उत्पन्न कर देगा। मानलो कि शरीर के वह अवयव शक्तिशाली हैं, और सभल गये हैं, और उस विष प्रभाव से बचने का प्रयत्न उसी तरह करते हैं, जिस तरह युद्ध के समय विषाक्त गैसों (वाष्पों) से योद्धा समूह। फिर भी जिस तरह विषाक्त वायव्य समूह से अनेक मरते, अनेक मूर्छित हो जाते हैं तथा अनेक अपने को बचा भी लेते हैं, ठीक यही अवस्था रात दिन विषाक्त वस्तु की उपस्थिति के कारण शरीर की होती रहती है। कई अंग शोथ दाह युक्त हो जाते हैं, कई मृत हो जाते हैं। जिन व्यक्तियों को विष्टब्धता की बीमारी हो जाती है उनका शरीर तो मानों विषाक्त वाष्पों का संग्रह यन्त्र ही बना रहता है। यदि अपान वायु निकल कर उनकी सहायता न करे तो उन व्यक्तियों का मरण इतने समीप होता है जितना क्लोरोफार्म अधिक सूंघने से। जिन व्यक्तियों में उक्त भोजन का अपरिपाचित रूप दुरावस्था में या विकृतावस्था में अशांश रूप से अन्त्राशय में बना रहता है और उन में अनेक दुर्गुण पूर्ण रसायनिक परिवर्त्तन होते रहते हैं, उस रसायनिक द्रवों, वाष्पों (व्याधि मूलों) की उपस्थिति धीरे २ शरीर को निर्बल बना देती है। इसीसे कईयों का यकृत बढजाता है, कइयों का

प्लीहा, कइयों के अन्त्राशय में शोथ होजाता है, कइयों के मास्तिष्क में विकार बना रहता है। जिन व्यक्तियों के शरीर इन विकारों से दूषित बने रहते हैं उनको कितने ही अच्छे पौष्टिक पदार्थ खिलाइये, वह पुष्ट नहीं होते। कई व्यक्तियों के मुह से क्या आप यह नहीं सुनते, कि यार! अच्छे२ पौष्टिक पदार्थ खाता हूं, पर जरा भी शरीर में शक्ति नहीं बढ़ती। बढ़े कहां से, जब तक अन्त्राशय में अपरिपाचित पदार्थ पड़े २ सड़ते, गलते, रहते हैं और उनसे अनेक प्रकार के विषाक्त पदार्थ निकल २ कर रक्त में मिलते रहते हैं तथा उसके द्वारा वह शरीर के कण२ में पहुचा करते हैं, ऐसे समय शरीरावयवों को तो जीवन रक्षा की पड़ी होती है। एक व्यक्ति चारों तरफ से जलते हुए मकान में घिरा हुआ सिवाय जीवन रक्षा के उसे उस समय और कोई फिकर नहीं होता। जब उस दु:ख से बच जाता है तो फिर सुख की सूझती है। यही हाल शरीरावयवों का है। जब वह विषाक्त पदार्थों के संस्पर्श से अपने को सदा बचाने की फिकर में होते हैं, उस समय समग्र शरीर के शरीरावयवों का ध्यान उधर ही खिचा रहता है। इसलिये शरीर की प्रत्येक क्रिया मन्द रूप से होती रहती है। कई अग, उपाङ्गों की क्रिया इसलिये भी शिथिल हो जाती है कि इन व्याधि-मूलों के कारण उनके अवयव विकारी हो जाते हैं। इसीसे वह ठीक २ अपनी क्रिया सम्पादन नहीं कर पाते। बहुधा यकृत प्लीहा, क्लोम, उदर ग्रन्थिया अधिकता से दूषित हो जाती हैं। क्योंकि इन ग्रन्थियों का पाचक यन्त्रों से ही अधिक सम्बन्ध है। और यह ग्रन्थिया विकारोत्पादक अग के अधिक समीप होती हैं। जिन व्यक्तियों में व्याधि–मूल का उत्थान होता हो ऐसे की पाचन क्रिया अर्थात् उदर दरी के ग्रान्थिक रस अच्छे नहीं बन पाते। जो बनते हैं, वह निर्बल व अनेक तरह के दोष युक्त होते हैं। इसीलिये यह रस साधारण भोजन का भी अच्छी तरह परिपाचन नही कर सकता। ऐसे समय यदि अच्छे से अच्छे पौष्टिक पदार्थ पचाने के लिये या रसायनिक विश्लेषण के

लिये दिये जाय, तो भला कब वह उन्हें परिपाचन कर सकते हैं। और जब पौष्टिक द्रव्यों का परिपाचन ही न हो तो उससे शक्ति कैसे उत्पन्न हो। बहुतों में देखा गया है कि ऐसी अवस्था में पौष्टिक पदार्थ खिलाने पर एकाएक कोई न कोई बीमारी हो जाती है, किसी को दस्त, किसी को अजीर्ण व ज्वर आदि हो जाते हैं। इसका कारण पौष्टिक पदार्थ का अपक्व रूप में रहकर अन्त्राशय में सड़ना और व्याधि-मूलों में मिलकर उनकी शक्ति को बढ़ा देना है। इसी से कोई न कोई विकार और उद्भूत हो उठते हैं, इससे लाभ की अपेक्षा हानि होती है।

ससार में बहुत ही कम मनुष्य आप को ऐसे मिलेंगे जिनमें इन विकारों—उदरस्थ—मलों—का अभाव हो। सयमी पुरुष का ही शरीर शुद्ध रह सकता है, और का नहीं। कई वैद्य कहेंगे कि निर्विकारी शरीर को किस तरह पहिचाना जा सकता है, तथा विकारी की पहिचान क्या है ? । यहां पर हम इसका भी वर्णन दे देना उचित समझे हैं।

## दोषी व निर्दोषी शरीर की परिक्षा

मनुष्य के नैतिक कार्य व्यवहार ऐसे हैं जो एक सीमा के भीतर बँधे हैं। उदाहरण—सोना, जागना, खाना, पीना तथा और अनेकों इसके जीवन व्यापार सब सीमित व नियमित हैं। एक व्यक्ति सेर अन्न खाता है, वह नित्य ही सेर खाता चला जाता है। और पूछो तो कहता है कि मेरा एक सेर नित्य का अहार है। सोने वाला कहता है, हम ८ घण्टे सोते हैं। काम करने वाला कहता है हम अमुक २ काम इतने २ घण्टे में करते हैं। हमने हर एक काम का समय बाँधा हुआ है। इत्यादि इसलिए हमें अब किसी बात की चिन्ता नहीं। पश्चिमीय संसार तो नियमों का ऐसा भक्त बन गया है कि बिना नियत समय के बात नहीं करता।

जिस तरह हमने अपने कार्य व्यवहार के लिए नियम बांधे हैं और उनकी

एक सीमा निश्चित कर दी है। ठीक इसी तरह प्रकृति ने भी मनुष्य शरीर के भीतर ऐसे ही नियम बांधे हैं। जिसके विपरीत शरीर का कोई अंग प्रत्यंग हिल तक नहीं सकता, इसी तरह इनके काम का भी हाल है।

एक व्यक्ति एक सेर अन्न खाता है, और वह उस अन्न को २० घण्टे में अच्छी तरह पचा कर २२--२३ घण्टे में उसका अवशेष भाग बाहर निकाल देता है, तो इसके लिए यह इसके भोजन की मात्रा है। और उसके पचने का समय भी नियत है। किन्तु देखना यह है कि यह जो कुछ खाकर अपने समय के भीतर पचा लेता है, उस के जानने की कोई परीक्षा भी है, या केवल अनुमान ही अनुमान है। कोई भी ऐसा काम नहीं, जिसका नियम व रूप न बांधा जा सकता हो। किसी मनुष्य का पाचन क्रम ठीक है या नहीं, इसको जानने का सब से सरल क्रम उसकी स्वस्थता देखना है। इस के पश्चात् अवशेष व निकलने वाले मलों की परिक्षा है।

जो व्यक्ति उचित भोजन खाकर ठीक समय में पचा जाता है और भोजन करने के समय से लेकर अगले दिन शौच क्रिया तक, जिसके शरीर में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। प्रभात को उठने के समय शौच की हाजत हो जाती है, मल बंधा हुआ साफ मटियाला पीला उतरता है और मुख का स्वाद अच्छा रहता है, जिह्वा पर किसी प्रकार की मलिनता नहीं पाई जाती, न आलस्य होता है न शिथिलता। ऐसी अवस्थाओं को देख कर यह समझा जाता है कि इसका शरीर निरोग या स्वस्थ हो। और इसके शरीर में भोजन का परिपाचन ठीक होता है। इसके विपरीत भोजन करने के पश्चात् शरीर भारी हो जाय, आलस्य आ जाय, काम करने की इच्छा न हो, निद्रा आ घेरे, तृषा अधिक लगे, तो समझो कि यह अधिक भोजन का विकार है। जिस भोजन से कुपाच्य रहे, भोजन के कुछ समय किये हो जाय

पेट में भारीपन, दर्द, खट्टे–डकार अजीर्ण आदि के लक्षण पाये जांय, तो समझलो कि इसके भोजन में विकार उत्थित होने वाला है। जब प्रभात में मल साफ बंधा हुआ न उतरे, उसका वर्ण विवर्ण हो, मल पतला, दुर्गन्ध पूर्ण हो, और समय पर न उतरे, जिह्वा मलिन हो, मुख का स्वाद फीका या स्वाद रहित हो, शौच जाकर भी चित्त प्रसन्न न हो, तृषा हो, मूत्र अधिक उतरे या कम उतरे, मूत्र का वर्ण भी गहरा हो, इनमें से कुछ भी लक्षण मिलते हों तो समझलो कि अन्त्राशय में विकृत मल उपस्थित है। जिस व्यक्ति को कब्ज रहती हो, ऐसे का उदर तो विकृत मल का घर ही होता है। विष्टम्भी का शरीर सदा ही अनेक अनावश्यक दोषों से भरा रहता है, ऐसों का शरीर जब तक कोष्ठ शुद्ध न हो कभी शुद्ध नहीं होता।

## दोषों की उपस्थिति से संचारी व्याधियों को सहायता

जिसका घर सदा गन्दा, मैला, बुरी वस्तुओं से पूर्ण रहता हो वहीं पर मक्खी, मच्छर, भुनगा आदि अनेक गन्दगी–प्रिय–प्राणी एकत्र हो जाते हैं। और जब तक वह बना रहता है तबतक इनका जाना या दूर होना कठिन है। कहते नहीं! जिस के घर में एक बुराई घुस जाय उस के घर में और बुराइयां भी आसानी से स्थान पा जाती हैं। ठीक इन्हीं मिसालों के तुल्य शरीरस्थ दोषों का जान्तविक व्याधियों से सम्बन्ध है। जिसका शरीर जितना दूषी होगा, उसका उतना ही शरीर अधिक जान्तविक व्याधि के लिये उपयुक्त होगा। जिसका शरीर जितना अधिक दूषित पदार्थों से परिपूरित होगा, उस पर उतना ही अधिक वेग जैव जनक व्याधियों का देखा जायगा। उदरस्थ विकृत मल और रक्तस्थ दोष यह दोनों ही कीटाणु व जीवाणुओं के लिये अपने में अच्छा क्षेत्र रखते हैं। क्योंकि, जीवाणु व कीटाणु

बहुधा गन्दगी प्रिय हैं, इनको अहार भी ऐसी ही वस्तुओं से मिलता है। जो अच्छी वस्तु भी हो और यह कीटाणु उसमें जा घुसें, तो वह भी अच्छा नहीं रह सकता, उस अच्छे पदार्थ में भी गन्दगी उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् यह उसे गन्दा बना देते हैं। गन्दी वस्तुएं बनाना, गन्दे स्थानों में रहना, पदार्थ को विकृत करके (गन्दा बनाकर) खाना यह सब बातें कीटाणुओं को प्रिय हैं। चोर २ मौसेरे भाई। बुरे मनुष्य के साथी भी बुरे ही होते हैं। इन्हीं कहावतों के तद्वत विकृत मल और दूषित पदार्थ यह दोनों कीटाणुओं और जीवाणुओं के सहायक साथी हैं। जिसके शरीर में इन दोषों की विद्यमानता है उनका शरीर मानो कीटाणु जन्य व्याधि के लिये बना बनाया क्षेत्र तय्यार है।

ऐसों के शरीर में जहां कोई व्याधि कारक जन्तु घुसे नहीं कि इनकी सहायता से शीघ्र ही बढ़ जाते हैं। क्योंकि शरीर विकारी रहने के कारण निर्बल बना रहता है, क्षामक शक्ति भी विकार के प्रभाव से दबी रहती है। शरीर रक्षक भी विकारों के मारे बुरी हालत में होते हैं। इसीलिये कीटाणु—जन्य—व्याधि को बढ़ने का खूब अवकाश मिल जाता है। व्याधि—जनक—जन्तु भी तो अपने भक्ष की खोज में फिरते ही रहते हैं। जहां ऐसा अच्छा निरुपद्रव रहने के लिये स्थान और खाने के लिये बिना बाधा के भोजन मिले, तो भला कौन चूकता है, इसी से प्रायः विकारी शरीर, जान्तविक व्याधि के जल्दी शिकार बन जाते हैं, यह एक निश्चित सिद्धान्त है।

हमारे ग्रन्थ के नायक मन्थर ज्वर के कर्त्ता भी इन्हीं कारणों से खूब बढ़ते और फलते, फूलते हैं। और जब यह फलते फूलते हुए शरीर में वृद्धि पाकर जिन २ लक्षणों से युक्त व्याधि के रूप में प्रकट होते हैं उनका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

---

# तीसरा-परिच्छेद

## मन्थर जैवों का वास स्थान और सन्तति क्रम

जब इस बात का ज्ञान होगया कि मन्थर ज्वर एक प्रकार के कीटाणुओं से होता है, तो इस बात की खोज की गई कि यह मनुष्य शरीर तक पहुंचते किस तरह हैं, तथा इनकी उत्पत्ति व निवास कहां हैं। बहुत समय तक निरन्तर खोज करते रहने पर पता लगा कि इनके निवास का मुख्य स्थान आर्द्र भूमि और जलाशय के जीव हैं। जिन तालावों व जल-श्रोतों में केकड़े, कछुवे, मेंढक व मेंढक जाति की मछलिया, घोंघे आदि जन्तु रहते हैं। तथा जहा कीचड़ सदा बना रहता है, ऐसे स्थानों में प्रायः मन्थरी कीटाणु देखे जाते हैं। और केकड़े, कछुवे, मछली, घोघों के शरीर इनके रहने के मुख्य स्थल हैं। जब कभी इनका सञ्चार होता है तो उक्त जलाशय के जल स्पर्श, सेवन व जीव जन्तुओं के भक्षण से इनकी पहुच मनुष्य तक हो जाती है, वहीं से यह प्रायः सञ्चार का कारण बनते हैं।

### मन्थरी कीटाणुओं की स्थिति व सन्तति क्रम

जो भी कीटाणु व जीवाणु जाति के आदि-प्राणि हैं, सब अमैथुनी सृष्टि के आरम्भिक जीव हैं। इनमें न नर होता है, न मादा। अर्थात् स्त्री पुरुष का कोई भेद नही देखा जाता। जितने भी आदि जव हैं, सब खाते, पीते हुए जब शरीर से बढ़ते हैं, तो अपने अन्दर की प्रत्येक शक्तियों सहित दो भागों में विभाजित हो जाते है। यद्यपि, विभाजन-क्रम प्रत्येक वर्ग के आदि

जैवों में कुछ अन्तर से होता है। तथापि, विभाजन नियम से बाहर नहीं। और इनका यह विभाजन—क्रम ऋतु और देश काल की अनुकूलता मिलने पर इतनी त्वरित गति से होता रहता है कि पाठकों को पढ़ कर आश्चर्य होगा।

एक कीटाणु किसी ऐसी जगह पर पहुंच जाय जहां उत्ताप अनुकूल हो, खाद्य सामग्री बहुतायत से मिल रही हो, तो ऐसे स्थल पर एक कीटाणु आध घन्टे से पूर्व ही एक से दो बन जाते हैं, और वह दो बनते ही उसी तरह जीवन का व्यापार चलाते हुए देखते २ दो से चार, चार से आठ, और आठ से सोलह में विभाजित होजाते हैं। यदि हम इनकी उत्पत्ति का समय एक घंटा भी मान लें, तो चौवीस घटे में इनकी संख्या लाख से ऊपर बन जाती है। और दो चार दिन में तो यह इतनी हो जाती है कि गिना नहीं जा सकता। जब तक खाद्य सामग्री काफी बनी रहती है, ऋतु अनुकूल रहता है। तबतक तो यह अपनी वंश वृद्धि बड़े वेग से करते रहते हैं। जब ऋतु विपरीत पड़ जाता है, शीत अधिक बढ़ जाता है या उत्ताप की वृद्धि होती है या खाद्य वस्तु का अभाव हो जाता है, तब पाठक यह न समझ लें कि यह सब के सब मर जाते होंगे; यह बात नहीं। इसमें भी हमारे जैसी जीवन-रक्षण शक्ति होती है, जो संकट काल में बिना खाद्य के इनको सजीव बनाये रखने में इनकी सहायता करती है। यदि ऐसा न होता तो इनका अस्तित्व ही संसार में न रहता। जिस समय इन पर संकट काल आता है तो यह कई २ दिन क्या कई २ मास बिना खाये पिये ही समाधि लगाये बैठे रह जाते हैं। और अपने शरीर में ऐसा परिवर्तन उत्पन्न कर लेते हैं कि कठिन से कठिन सर्दी व ९०, ९५ डिग्री तक के उत्ताप को सहन करते हुए उस कष्ट को पार कर जाते हैं। इनकी इस अवस्था को आसन्नावस्था कहते हैं। आसन्नावस्था में जाने पर यह बहुधा कम मरते हैं। उस तरह इनका जीवन-क्षणिक ही होता है, पर इस अवस्था में नहीं। इस अवस्था

में कई २ मास तक जीवित रहते हैं। अब यह मन्थर के कीटाणु मनुष्यों तक किस तरह पहुंचते व फैलते हैं। हम इसका खुलासा करेंगे।

## मन्थरी जैवों के सञ्चार का कारण।

शीत ऋतु में कोई भी जीवाणु व कीटाणु अपनी वश वृद्धि नहीं कर पाते। कारण यह है कि ऋतु इनके अनुकूल नहीं होती। शीतकाल तो यह प्रायः आसन्नावस्था में रहकर अपना समय काटते हैं, और जहां वसन्त ऋतु आया कि यह आसन्नावस्था छोड़कर अपने वाहकों द्वारा हर तरफ फैलने लगते हैं।

**जल द्वारा प्रसार**—जिस जलाशय या जिस जीव जन्तुओं के शरीर पर यह विद्यमान होते हैं; प्रथम तो खाद्य सामग्री यदि वहा हो तो वहीं पढ़ते रहते हैं, न हो तो और जगह चले जाते हैं। परन्तु जैसे २ यह बढ़ते जाते हैं अधिक वृद्धि के कारण या खाद्याभाव से उक्त स्थल को अवश्य छोड़ते जाते हैं। इस तरह यह सारे जलाशय या आद्रभूमि में व्याप्त हो जाते हैं। यदि जलाशय में ही विद्यमान ह तो सारे जलाशय में फैल जाते हैं, और जल प्रवाहित होता हो तो जल प्रवाह के साथ २ दूर २ तक पहुच जाते हैं। जिस जल या आद्रभूमि में यह विद्यमान हों, यदि कोई व्यक्ति या पशु उस जल में चला जाय या उस जल को पान करे तो उसके भीतर या शरीर पर लग कर उसके घर तक पहुंच जाते हैं। मानलो एक व्यक्ति ने जल नहीं पिया, किन्तु स्नान कर आया है, स्नान करने से भी शरीर पर लग जाते हैं। शरीर पर लगे हुए इस तरह तो नहीं बढ़ते, किन्तु शरीर पर लगकर वहीं स्थिर भी नहीं रहते। शरीर के सूखने पर या वस्त्रों की रगड़ से छुट जाते हैं और भूमि पर गिर पड़ते हैं।

**धूलिकणों द्वारा प्रसार**—यदि भूमि पर न गिरकर किसी खाद्य सामग्री पर गिर पड़ें तब तो उसके खाने पर सीधे ही पेट में पहुच जाते हैं। यदि ऐसा

अवसर न मिले, वह जमीन पर गिर पड़ें, तो धूल कणों पर चिपक जाते हैं। और
घर साफ करते समय धूल कणों के साथ उड़कर स्वास मार्ग से भीतर पहुंच जाते
हैं, या उक्त धूलि कण खुले हुए जल खाद्य पदार्थों पर पड़कर उसके द्वारा
मनुष्यों की उदर-दरी में जा पहुंचते हैं।

**मांस द्वारा प्रसार**—इससे भिन्न हमारे देश में अनेक व्यक्ति मांस
सेवी होने के कारण केकड़ा, मच्छी आदि जल जन्तुओं को खाते हैं, जो व्यक्ति
इन जन्तुओं को पकड़ते हैं, बनाते हैं यदि यह कीटाणु उन जन्तुओं में विद्यमान
हैं, तो उनके स्पर्श से पकड़ने वालों के हाथों में लग जाते हैं, और उस हाथ से
कोई वस्तु खाई जाने पर या उन जीवों के खाये जाने पर—जिसमें उक्त कीटाणु
जीवित हो—उस खाद्य के द्वारा उदर में पहुंच जाते हैं।

**मक्खियों द्वारा प्रसार**—मान लो कि उक्त कारण एक भी नहीं
बने, न बनने की आशा है। तो इनसे भिन्न मक्खिया एक ऐसा कारण हैं जो
खामख्वाह बन जाती हैं। शीतकाल व्यतीत होने पर ऋतु अनुकूल पाते ही जिस
तरह कीटाणु अपनी वंश वृद्धि करने लग जाते हैं, उसी तरह मक्खिया भी अण्डे
देने लगतीं हैं। और देखते २ कुछ दिनों में ही ससार में मक्खियां ही मक्खिया
फैली नजर जाती हैं। यह मक्खी इतनी विकृष्ट जाति का जीव है कि कोई भी ऐसी
वस्तु नहीं, जिसको यह न खाता हो। अच्छी से अच्छी और गन्दी से गन्दी वस्तु
पर जा बैठता है। अभी भोजन पर बैठा हैं, वहां से उडा पाखाने पर जा बैठा,
और उस पर बैठते ही हाथ पैर सब भर लिये। वहा से उड़ा मांस, मछली पर
जा बैठा। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी ऐसा स्थल नहीं जहां यह न
पहुंच जाता हो। इन मक्खियों के हाथ, पैर, मुंह आदि को देखने से पता लगा है
कि इनके शरीर अनेक जाति के जीवाणु कीटाणुओं से लदे रहते हैं। अर्थात् इनके
हाथों पैरों में उदर में, अनेकों जीवाणु, कीटाणु लगे रहते हैं। फिर यह मक्खियां

एक स्थान पर ही सीमित नहीं रहतीं। प्रत्युत रेलगाडी, बैल गाडी व मनुष्यों के साथ एक गांव से दूसरे गाव, एक शहर से दूसरे शहर में बड़ी आसानी से पहुंच जाती हैं और अपने भोजन की तलाश में हर एक चीज पर जा बैठती हैं। सच पूछो तो भारतवर्ष में अधिक सचारी व्याधिया इन्हीं के द्वारा फैलती हैं। वास्तव में हैजा, चेचक मन्थर आदि प्रधान रोगों को फैलाने में यह मुख्य कारण हैं। इनके द्वारा मन्थर कीटाणुओं का सञ्चार एक ही तरह से नहीं, अनेकों तरह से होता है। जलाशय के आर्द्रभाग में यह पहुच जाती हैं, जल पर यह बैठ जाती हैं। मास, मछली आदि जन्तुओं पर यह डेरे जा डालती हैं। इससे भिन्न खाद्य, पेय वस्तुए तो कोई भी इनसे अछूती नहीं रहती। मन्थर कीटाणुओं को सीधे मनुष्य के भोजन में भी पहुचा देती हैं, इससे भिन्न मनुष्यों से भी मनुष्यों तक भी जैवों को पहुचा देती हैं। यथा—एक व्यक्ति मन्थर ज्वर से बीमार है, उस समय उसका शरीर–क्या भीतर क्या बाहर–मन्थरी कीटाणुओं से लदा होता है। क्या रक्त, क्या मलमूत्र, थूक हर एक में यह विद्यमान होते हैं। ऐसे समय रोगी यदि थूकता है तो मक्खिया चट थूक में जा बैठती हैं। शौच जाता है तो मल पर जा डेरे डालती हैं, और वहां से उड कर पास पड़ोसियों के घर पहुच कर उन के खाद्य, पेय को दूषित कर देती हैं। इन जीवों की सब से विचित्र बात यह है कि जहां इन्हें खाने के लिए मिलता है, वहीं भोजन पर बैठकर खाती हैं और हाथ पैर उस वस्तु से भर लेती हैं। पर जहां खाने को कुछ नहीं मिलता, वहा पर बैठ कर हाथ पैर साफ करती हैं, और लगे हुए हाथ पैरों के मल को वहीं लगा देती हैं। इस तरह से यह जितना रोग कारणों का सचार करती हैं, इतना और कोई प्राणी नहीं करता। इनसे प्रायः मन्थरी–कीटाणु अधिक फैलाये जाते हैं। इन्हीं कारणों से जहा पर मन्थरी कीटाणुओं का वास होता है, वहा से वह आसानी से फैल कर व्याधि का कारण बनते हैं।

**मनुष्यों द्वारा संचार**—इनसे भिन्न यह रोग मनुष्यों द्वारा मनुष्यों में किस तरह फैल जाता है, इसके भी कई कारण हैं। यथा—एक रोगी के सामने उसका कोई सम्बन्धी बैठा है, रोगी को खांसी आ रही है। ऐसे समय खांसी के साथ फेफडों से जल वाष्प, थूक के कण प्रायः बाहर निकल कर हवा में मिलते रहते हैं। एक तो रोगी के सामने बैठने वाले के मुंह पर उन जल व थूक के कणों का पडना आसान है। दूसरे श्वास द्वारा खिंच कर भीतर चला जाना उससे भी आसान बात है। जिस रोगी को जो बीमारी हो उस रोग के कीटाणु उसके थूक व जल कणों में भी अधिकता के कारण विद्यमान रहते हैं। खासी के साथ ही उसके थूक या जल कणों पर चढ़े हुए यह जैव चट बाहर होते हैं, और हवा में मिलते ही श्वासाकर्ष से खिंच कर दूसरे के अन्दर जा पहुंचते हैं। और उसके शरीर में अवकाश पावे ही बढ़कर रोग का कारण बन जाते हैं। इन जैवों का किसी मनुष्य के शरीर में पहुंच कर उसी समय रोग उत्पन्न करना कोई जरूरी नहीं होता। प्रत्युत कभी २ एक व्यक्ति के शरीर में महीनों रह कर भी नहीं बढ पाते, न अपनी स्थिति दृढ़ बना पाते हैं, इसीलिए मनुष्य तब तक रोगी नहीं होता। किन्तु जहां इनको परिस्थिति अनुकूल मिली, यह बढे और अपना प्रभाव मनुष्य पर डाल सके, उसी समय व्याधि का चिन्ह परिलक्षित होने लगता है।

(२) बीमार व्यक्ति के घर अनेक पास पडोसी उसकी खबर लेने आते हैं। ऐसे समय कई व्यक्ति उसको स्पर्श करते हैं, कई बच्चे उसके साथ आकर लगते हैं, कई रोगी के बिस्तरे पर बैठ जाते हैं। इस तरह करने पर जो रोगी का शरीर कीटाणुओं से परिवेष्ठित रहता है तथा उस के वस्त्रादि भी कीटाणु दोष से मुक्त नहीं होते, उनके स्पर्श होने पर बैठने, छूने वालों को वह लग जाते हैं। हमारे देश में उस तरह तो रोटी खाने, पकाने का बडा छुआ छूत है

पर इस तरह की छूत से बचने का उन्हें कोई ज्ञान नहीं। बीमार को छूकर हाथ तक नहीं धोवेंगे, पर रोटी पकाने से पूर्व स्नान अवश्य कर लेंगे। उस तरह स्वच्छता कुछ नहीं, पर दिखावे के लिए आडम्बर बड़ा है। हम यूरुप वालों के छूवा, छूत, आचार, विचार की निन्दा करते हैं पर, हम स्वच्छता के रहस्य को बिलकुल नहीं जानते। इसीलिए विदेशियों की अपेक्षा अधिक संचारी व्याधियों के शिकार बने रहते हैं। जितनी अधिक संचारी व्याधियां हमारे देश में होती हैं, इतनी किसी भी पश्चिमीय देशों में नहीं देखी जातीं।

## मन्थरी जैवों का शरीर में केन्द्र व शक्ति

जिस समय खान, पान, व श्वास प्रक्रिया द्वारा शरीर में मन्थरी जैव प्रवेश कर जाते हैं और शरीर रक्षकों के हाथों बचते हुए आगे बढते चले जाते हैं, उस समय वह शरीर के–चाहे मुख, नासा, गुदा, त्वचा आदि–किसी भाग से घुसे हों, वहां से क्षुद्रान्त्र में पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। क्योंकि शरीर में यही एक ऐसा स्थल है, जिसको इन्होंने अपनी रुचिके अनुकूल समझा है। जिस समय यह क्षुद्रान्त्र में पहुंचते हैं तो वहां से वह क्षुद्रान्त्र कला में घुसकर अपनी स्थिति बनाते हैं। यदि भोजनद्वारा ही सीधे उदर में पहुंच जाँय, तब तो सीधे क्षुद्रान्त्र में ही जा पहुंचते हैं। यदि किसी और मार्ग से घुसें, तो रक्त प्रवाहद्वारा क्षुद्रान्त्र कलामें पहुंचने का प्रयत्न करते हैं। और वहां पहुंच कर उस पर अपना अधिकार जमाते हैं। और उस कला में अपनी स्थिति दृढ बनाने के लिये एक प्रकार का तरलविष छोड़ते हैं, जिससे कलावयव सज्ञा हीन होने लगते हैं। जिस समय मन्थरी जैवों के दृढ होनेकी यह अवस्था आरम्भ होती है, उस समय उक्त स्थलपर निम्न लिखित परिवर्त्तन आता है। कला के उक्त भागमें एकाएक उत्ताप बढने लगता है, दूसरे आसपास के स्थल में उत्ताप बढने के कारण रक्तसंचार बढ जाता है, तीसरे रक्त

संचार व रक्त वृद्धिके साथ २ शरीर रचकों की वृद्धि होती जाती है। इन कारणोंसे अन्त्र की मांस–पेशी व अन्त्रकला में इन सब के जमघट से विवर्द्धनक्रम आरम्भ होजाता है, जिस की स्थिति का नाम विकृत वृद्धि या शोथ है।

देखा चित्र नं० ३
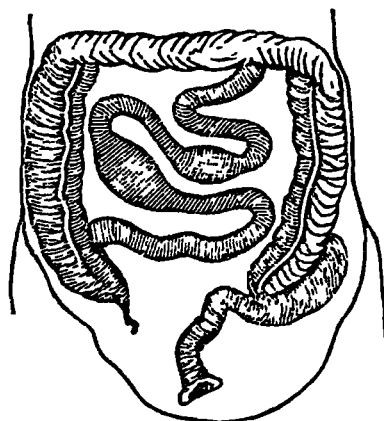
देखो शोथ युक्त

क्षुद्रान्त्र के चिन्हित स्थान

जैसे २ उक्त जैवशक्ति वढती जाती है, वैसे २ उक्त स्थल में शोथ व दाहका रूप वढता जाता है। और जिस समय उनकी स्थिति दृढ हो जाती है, तो वह फिर एक विशेषप्रकार का विष उत्पन्न करने लग जाते हैं। जो वढकर रक्त में मिलने लग जाता है, जिससे उसी समय सारे शरीर में हलचल उत्पन्न हो जाती है। शरीर के प्रत्येक जीवकोष इस हलचल में भाग लेते हैं, और सारे शरीरावयवोंद्वारा एक प्रकार का संघर्ष आरम्भ होता है, शरीर में उत्ताप वढने लगता है, जो देखते २ सार्वदेशिक हो जाता है। जिस की हम सब ज्वर संज्ञा देते हैं।

## मन्थरीमल–व विषका प्रभाव

जिस स्थल पर कीटाणु अपना केन्द्र वनाकर वढते हैं, वहा की आन्त्रिककला में निम्न लिखित परिवर्त्तन होता है। एक तो उक्तस्थल का वर्ण वदल जाता है, कारण कि उक्त कीटाणुओं द्वारा एक तरह से कलावयव मर जाते हैं, और उनका वह

मृत शव—जो उन कीटाणुओं के द्वारा खाये जाने के पश्चात् बच जाता है वह—अन्त्र कलामें ही चिपका रह जाता है। दूसरे शरीर रक्षकों के साथ युद्धमें जो अनेकों कीटाणु व शरीर रक्षक मरते हैं वह रक्तस्त्राव रहित भाग में अर्थात् अन्त्रकला में चिपके रहकर उक्तस्थान की विकृति में सहायता देते हैं। तीसरे जैवाविष जो जैवों के द्वारा बनने लगता है वह भी वहा पर काफी होता है। उन सब की उपास्थिति के कारण उक्त स्थान का उत्ताप और अधिक बढ़ जाता है। इससे विशेष उत्ताप व अयोग्य दूषित पदार्थों के एकत्र होने पर उक्त स्थान में एक प्रकार का खँमीर उठ खड़ा होता है। और वह स्थल सड़ाव के रूपको प्राप्त होने लगता है। उससे एकप्रकार की गन्ध उठने लग जाता है। और इस सड़ावके कारण उक्त अन्त्रकला का वर्ण धीरे २ बदलने लग जाता है। वह उस समय सड़े हुए मासका सा रूप धारण करती है, इस सड़ाव युक्त या विकृत भाग को ही मन्थरी-मल या मन्थरी दोष कहते हैं। यह मल जब तक स्थाई बना रहता है, मन्थर ज्वर दूर नहीं होता। यह एक ऐसी वस्तु है जिसकी विद्यमानता से ही प्रत्येक मन्थर ज्वर के उपद्रव बने रहते हैं और इसकी वृद्धि से ही बढ़ते हैं। जिस तरह से किसी वस्तु पर फूई या काई लग जाती है ठीक इसी तरह से यह मल अन्त्र की दीवार पर चिपका हुआ दिखाई देता है।

देखो चित्र ४–५। चित्र ४ उस समय के रोगी के अन्त्र का चित्र है। जबकि मन्थर ज्वर आरम्भ में ही प्रबल होकर इतना बढा कि ज्वर होने के दसवें दिन रोगी के हृदय की गति उत्ताप प्रभाव से अधिक बढकर बन्द हो गई और रोगी की मृत्यु होगई। इसमें मन्थरी मल का प्रभाव अन्त्र के कई स्थानों पर हो चुका था। किन्तु विष का प्रभाव इस रोगी पर इतना अधिक हुआ कि शरीर का उत्ताप बढ़कर उसने धुकधुकी बन्द कर दी। चित्र न० ५ का चित्र उस समय का है जब कि दूसरे सप्ताह रोगी फुफ्फुस प्रदाह से ग्रसित होकर तीसेर सप्ताह में जाकर मरा। इसमें दो स्थानों पर मन्थरी मल स्पष्ट दिखाई देता है।

चित्र नं० ४
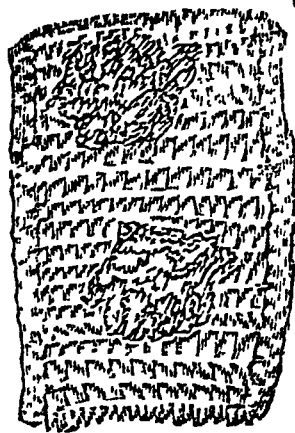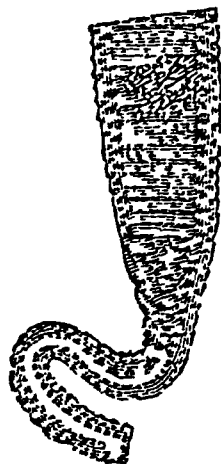
चित्र नं० ५

इस मल में मन्थरी जैव उसी तरह अनन्त होते हैं जैसे मधुमक्षिका के छत्ते में मधुमक्षिकाएं। यह मन्थरी मल जिस व्यक्ति में जितना अधिक फैला हुआ होता है, उतना ही व्याधिका प्रवल वेग देखा जाता है । जिस समय इस मन्थरी मल में और अधिक विकृति आरम्भ होती है उस समय अन्त्र की दीवारें इसके प्रभाव से अधिक खराव होने लग जाती है । अर्थात् अन्त्र में क्षत उत्पन्न होने लग जाते हैं और आन्त्रिक गति में भी विकार आजाता है। इस अवस्था को असाध्यावस्था कहते हैं । क्योंकि जिस समय आन्त्रभाग में क्षत उत्पन्न होजाते हैं, उस समय प्रायः रोगी की आन्त्रिक क्रिया इतनी शिथिल हो जाती है, कि लेही का अवधारण कठिन हो जाता है, इसीसे रेचन आरम्भ हो जाते हैं । यदि क्षत स्थान के आसपास प्रदाह अधिक हो रहा हो तो रेचन में आम आता है उदर में अधिक मरोड़ युक्त दर्द उठना हैं, और आम के साथ क्षत स्थान से रक्त भी मिल कर आता है, कभी २ छिछड़े, आन्त्रिक कला, व गन्ध पूर्ण मन्थरी मल आदि भी इसके साथ देखे जाते हैं । उस समय अन्त्र की निम्न लिखित अवस्था होती है । देखो चित्र नं० ६ जो चिन्ह ( धब्बे ) बीच २ में श्वेत दिखाई देते हैं वह सव क्षतित स्थल हैं ।

चित्र नं० ६
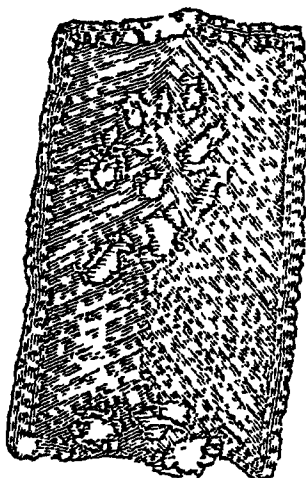
ऐसे समय रोगी की अवस्था भयकर होती है, प्राय· रोगी को अधिक रेचन आरम्भ होते ही उताप भी मात्रा मे अधिक वढ जाता है, तथा सन्निपातिक उपद्रव दिखाई देते हैं, इसी से रोगी के जीवन की आशा जाती रहती है।

यह मन्थरमिल उक्त ही व्याधिके होने में मुख्य कारण हैं, इसलिये हमने इसका नाम व्याधि–मूल दिया है। हम पीछे वतला आये हैं कि मन्थरी–ज्वर वाले के शरीरमें एक प्रकार की गन्ध भी निकलने लग जाती है। यह गन्ध प्रत्येक रोगी के शरीर से अवश्य निकलती है, इसका मूल कारण भी उक्त मन्थरी-मल ही है। मन्थरी मलसे जो गन्ध निकलकर शरीर में प्रवेश करती है वही हमको कुछ परिवर्त्तित रूप में वाहर प्रतीत होती है। एक वैद्य तो इस गन्ध का इतना अच्छा बोध रखते थे, कि रोगी की हथेली या वस्त्र सूघ कर ही मन्थरी ज्वर होने, न होने का पता दे देते थे। इसी ही मन्थरी मल के विषाक्त प्रभाव से गले व छाती पर मन्थर के मुक्तावत् दाने प्रादुर्भूत व तिरोभूत होते रहते हैं।

**दानों के स्पष्ट होने या अस्पष्ट रहनेमें कारण**—प्राय:कीटाणुओं के अन्त्रकला में प्रवेश करने पर तीन से पाच दिन की अवधि में मन्थरी मल बनता है, और मन्थरी मल के बनने पर दूसरे या तीसरे दिन उसमें प्राय: सड़ाव उत्पन्न होता है, और उसी गन्ध पूर्ण विष से मन्थर गन्ध तथा मन्थर के दानों का प्रादुर्भाव होता है। यदि रोगी को ज्वर होने पर शीतलोपचार किया जाय, और शीतल उपचार से मन्थरी मल मन्द गति से बन रहा हो या मन्थरी मल बनने पर भी शीत उपचार जारी रहे, या शरीर में शीत की प्रधानता हो, तो अन्त्रकला में उक्त शीत के प्रभाव से मन्थरी–मल में विकृति का कार्य शिथिल या बन्द रहता है। इसीलिए जिन व्यक्तियों में इस ज्वर की शीत प्रधान चिकित्सा चल रही हो, उस सप्ताह में मन्थर के दाने प्रादुर्भूत नहीं होते। और न व्याधि का रूप स्पष्ट होने में आता है। किन्तु इस शीतोपचार या शीत की प्रधानता से यह नहीं होता कि मन्थरी मल नष्ट हो जाय, प्रत्युत धीरे २ बलवान् व दृढ़ हो जाता है। ऐसी अवस्था में कीटाणु विशेष वृद्धि प्राप्त कर लेते हैं। इसी लिए पुनः जब जैव–विष प्रबल होता है, तो उस के प्रभाव से ज्वर भी प्रबल होने लगता है। जब तक मन्थर के दाने न प्रादुर्भूत हों, मन्थरी मल न निकल जाय, तब तक व्याधि जा नहीं सकती। इसीसे तो अनुभवी चिकित्सकों ने मन्थर–ज्वर में यही विधान रक्खा है कि जिस विधि से मन्थरी मल दूर हो वह उपचार आरम्भ करते हैं। तथा उसकी स्वभाविक विकृति को रोकने में जिस कार्य से सहायता मिले वह क्रम जारी रखते हैं। कई व्यक्ति कहेंगे कि जब रोग के मूल कारण को सहायता दी जाय तो रोग बढ़ेगा, न कि घटेगा। ऐसे व्यक्तियों को स्मरण रखना चाहिए कि जब मन्थरी मल उत्पन्न हो जाता है तो वह उसी रूप में कभी नहीं रहता है, न शीघ्र दूर किया जा सकता है। उसको दूर करने के लिए उसमें की विद्यमान शक्ति को नष्ट करना चाहिए। जिस द्रव्य

से उसकी उत्ताप मात्रा में कोई अन्तर न आवे तथा मन्थरी मल विकृत हो कर सूक्ष्म वाष्पीय अंश रक्त मार्ग से, कुछ मल के साथ छुट २ कर निकलने लगें, ऐसी क्रिया लाभदायी है। इसीसे जिस औषध से मन्थरी मल उत्ताप की सहायता पाकर अपने स्थान से छुट जाय, ऐसी चिकित्सा जारी रखनी चाहिए। ऐसे ही विधान से शरीर में प्रति-क्रिया या प्रति-विष उत्पन्न होता है, किसी और क्रम से नहीं।

**वारम्बार मन्थरी दानों के दिखाई देनेका कारण**—जब एक बार मन्थर के दाने दिखाई देजाते हैं, तो यह बात नहीं कि सबके सब इसी बारमें निकल कर शान्त हो जाय, प्रत्युत इनका तो अन्त मन्थरी-मल के साथ होता है। अर्थात् जब मन्थरी मल समग्र का समग्र अन्त्र की दीवार से छुट जाता है और मन्थरी मल की जगह अन्त्रकला अपने असली रूप को प्राप्त हो जाती है, जभी इन दोनों का तिरोभाव होता है। क्योंकि मन्थरी-मल में जो विकृति एक बार में आती है वह अपूर्ण होती है। आप देखते हैं कि जब कोई पदार्थ बिगड़ने लगता है तो एक तरफ से बिगड़ता है, न कि सब तरफ से। दूसरे सद्भाव क्रम में सब भाग एक बार में नष्ट नहीं होते, जो होजाते हैं—ऐसे समय उस स्थान को उक्त कीटाणु पुनः घेर कर उसको दूषित कर देते हैं। इसीलिए वारम्वार दानों का प्रादुर्भाव व तिरोभाव होता रहता है। यदि इन दानों के निकलने में बाधा न पड़े अर्थात् मन्थरी-मल के परिवर्त्तन में बाधा न डाली जाय, तो प्रायः मन्थरी मल तीसरी बार विकृत होकर शान्त हो जाता है। उस समय शरीर की प्रति क्रिया से मन्थरी मल का उत्पादन बन्द हो जाता है और प्रति विष उत्पन्न होते ही शरीर रक्षकों का प्रभाव मन्थरी-विष पर उत्पन्न होने लग जाता है। इसीलिए मन्थरी विष नष्ट होने लगता है। और इसके नष्ट होने पर मन्थर जैवों के नष्ट होने की बारी आ जाती है, जिसके साथ ही मन्थरी मल शक्ति रहित हो जाता है।

इसीसे वह अपने स्थान से छुट २ कर रक्त मार्ग व मल मार्ग से बाहर होने लगता है। जिस उदरी मल में यह मन्थरी मल मिश्रित होता है, उस मल का वर्ण विवर्ण ( काला, भूरा, छिछड़ेदार, ल्हेसदार ) होता है। और उस में से अत्यन्त गन्ध निकला करती है।

## मन्थर ज्वर में तीन अवस्थाएं

कोई भी जान्तविक व्याधि हो सब में प्रागूरूप, रूप और उपशय नामक तीन अवस्थाएं आती हैं। पाश्चात्य चिकित्सकों ने भी रोगारम्भ से लेकर शमन पर्यन्त तक तीन ही अवस्थाएं मानी हैं। वह प्रागूरूप को प्रथम, रूप को द्वितीय, उपशय को तृतीयावस्था मानते हैं। हम इन तीनों का क्रम से वर्णन देंगे।

**प्रागूरूप**—जिसका शरीर सम्प्राप्ति युक्त है अर्थात् जिसके उदर में मल विकृत हो रहे हैं, और उनसे उत्थित विपाक्त पदार्थ से शरीर विकार पूर्ण हो रहा है, उन के शरीर में मन्थर के कीटाणु जब किसी तरह प्रवेश कर जाते हैं तो शरीर के सजीव अवयवों से लड़ते, भिड़ते हुए अपने केन्द्र में जा पहुंचते हैं। जिस समय वह अपने केन्द्र अर्थात् क्षुद्रान्त्र में जा पहुंचते हैं तो वहा की कला में घुसकर यह अपना दुर्ग बनाते हैं। जब तक यह अपनी स्थिति दृढ नहीं कर पाते, उतनी देर तो शरीर में सिवाय शिथिलता, भारीपन, विष्टब्धता, अरुचि आदि के और कुछ प्रतीत नहीं होता, वास्तव में प्रागूरूप यही है। किन्तु नहीं प्रागूरूप की सीमा इससे भी आगे तक मानी गई है। अर्थात् पूर्व चिन्हों के पश्चात् जब एकाएक ज्वर हो जाता है और शरीर में जितने अधिक या जिस प्रकृति वाले विकार विद्यमान हों, उसी के अनुसार स्तम्भ, शिरःशूल, जुकाम, अरुचि, तृषा, व्याकुलता, भ्रम, दाह, कास आदि उपद्रव देखे जाय, जिस २ प्रकार के विकार या सम्प्राप्ति के स्वरूप हों, वैसे ही वैसे उपद्रव के रूप प्रकट होवेंगे। इन उपद्रवों के रूप को देखकर सम्प्राप्ति के वात पित्त और कफ यह तीन

ही भेद न समझ लेने चाहिये। प्रत्युत विकारों के रसायनिक रूपों के अनुसार इसके अनेक भेद हो जाते हैं।

ज्वर होने पर जब तक मन्थर के लक्षणों से ज्वर का स्वरूप और कारण व्यक्त न हो उस समय तक इसको प्राग्रूप के अन्तर्गत माना जाता है। ज्वर और व्यक्त लक्षणों को देखकर या व्याधि के कारण का निश्चित हो जाने पर उस अवस्था को रूप या दूसरी अवस्था कहते हैं। मन्थर में प्राग्रूप की अवधि सात दिन तक मानी गई है। बहुधा चिकित्सक को ज्वर होने से छः सात दिन तक मन्थर के दाने दृष्टिगत नहीं होते; इसीलिये यह निश्चय नहीं कर पाते कि इसको कौन सा ज्वर है। और इसका क्या नाम रक्खें। क्योंकि मन्थर ज्वर का प्रधान चिन्ह हमारे देश में सूक्ष्म २ स्वेत दानों का निकलना और यूरुप में हिरमिजी वर्ण के पेट पर धब्बे। इसमे भिन्न और सब चिन्ह गौण माने जाते हैं।

एक युवक रोगी जिसको मन्थर ज्वर था। आरम्भ से ऐसे चिकित्सक के हाथ में रहा, जो रोग का सही रूप निश्चय न कर सका। वह सन्तत ज्वर समझ कर चिकित्सा करता रहा। जिसका परिणाम यह हुआ कि सप्ताह के अन्त में जो मन्थर के दाने प्रादुर्भूत होने चाहिये थे, नहीं हुए। इसलिये ज्वर के चढ़ाव उतार व वेग में कोई अन्तर न हुआ, प्रत्युत वेग बढता ही गया। दो सप्ताह के पश्चात् दूसरा चिकित्सक आया, उस ने भी सन्तत नाम रख कर चिकित्सा प्रारम्भ कर दी, दो सप्ताह के पश्चात् उससे भी कुछ न बना। डाक्टर आया, उसने भी सन्तत ( मलेरिया ) स्वीकार करके चिकित्सा की, किन्तु कोई लाभ न हुआ। रोगी २॥ मास तक चारपाई पर पड़ा रहा। जब और चिकित्सकों के समक्ष मुझे बुला कर मेरी सम्मति मागी गई, मैंने गले में दाने देख कर निश्चित किया कि यह मन्थर है। और कहा कि यह तबतक राजी नहीं हो सकता, जब तक मन्थर की चिकित्सा न की जाय। जो वैद्य वहा पर विद्यमान थे

मेरा निश्चय सुन कर कहने लगे, मन्थर को शास्त्रकारों ने विषम ज्वर के अन्तर गत माना है। इसलिये यह मन्थर होता हुआ भी विषमान्तर गत सन्तत ही माना जा सकता है। मैंने कहा विषम—ज्वर के अन्तर गत एक स्वतन्त्र व्याधि को मानना कितनी बड़ी भूल है। कहा जीवाणु जन्य विषम ज्वर और कहां कीटाणु जन्य मन्थर; दोनों प्रधान रोग, और भिन्न २ वर्ग के आदि प्राणियों से होने वाले, इनको एक मानना महा अनर्थ करना है। परन्तु हठी, दुराग्रही व्यक्ति सच्चाई के आगे कभी भी सिर नहीं झुकाते।

प्रत्येक चिकित्सक को यह बात स्मरण रखनी चाहिये, कि मन्थर जीवाणुओं से जो विष उत्पन्न होता है वह भिन्न प्रकार का होता। और विषम ज्वर के जीवाणुओं से जो विष उत्पन्न होता है वह भिन्न प्रकार का होता है। तथा इन दोनों ज्वरों में मनुष्य की प्रकृति भी भिन्न २ रहती है। दोनों के लिये औषधियां भी भिन्न २ हैं, और इनका चिकित्सा क्रम भी भिन्न २ है। इन दोनों के लिये जो २ प्रति विष शरीर में बनाना है, उनकी आकृति, स्वभाव, प्रभाव भी सब भिन्न २ होते हैं। जिसका आदि से अन्त तक रूप भिन्न हों; उसको परस्पर मिलाना और एक रूप मान कर चिकित्सा करना रोगी पर मृत्यु का आह्वाहन करना है।

इसमें कोई सशय नहीं कि कोई भी आन्तविक ज्वर हो सब के स्वरूप भिन्न नहीं होते। प्रत्युत प्रागूरूपों में भी कम अन्तर देखा जाता है। ज्वर की एकता इतनी सूक्ष्म होती है कि इसका ठीक २ मालूम करना हर एक चिकित्सक के लिये कठिन होता है। क्योंकि बहुत से चिन्ह जो एक आन्तविक ज्वर में देखे जाते हैं, वही दूसरे में भी देखे जाते हैं; तथापि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कुछ न कुछ विशेषता व अन्तर अवश्य मिल जाता है। हमने इस ज्वर के हजारों रोगी देखे हैं, इसमें जो हमको प्रागरूप व रूप में सूक्ष्माति सूक्ष्म अन्तर मिले हैं उनको बतलाऊगा।

## कुछ रूपबोधक चिन्ह

बालकों को यदि मन्थर ज्वर होने वाला हो तो प्रागावस्था में प्रायः निम्नलिखित लक्षण सौ पीछे ७५ रोगियों में देखे जाते हैं। प्रथम प्रायः विष्टब्धता होती है, बालक सोते २ चौंक कर भयभीत होते हैं। जिन बालकों को विष्टब्धता न हो वह कम चौंकते है। रह २ कर दूध पीते २ स्तन छोड़कर व्याकुल हो उठते हैं। आखें प्रसार कर आस्मान की तरफ देखते हैं; या इधर उधर वारम्बार दृष्टि दौड़ाकर और एकाएक नेत्रोन्मीलन कर स्तब्ध हो जाते हैं। यह चिन्ह ज्वर से पूर्व प्रायः देखे जाते हैं। इसके पश्चात् शरीर का उत्ताप बढ़ जाता है, उत्ताप बढ़ते ही बालकों में प्रायः तन्द्रा अधिक बढती है, बच्चों को वारम्बार जगाइये, आंख खोलते ही जरा इधर उधर देखकर फिर आखें बन्द कर लेते हैं। इस तरह की तन्द्रा प्रतिशत ६५ बालकों में पाई जाती है। पर १०, वर्ष से बड़े बच्चों में इसकी कमी देखी जाती है। ज्वरारम्भ के दूसरे या तीसरे दिन जिह्वा पर एक विशेष प्रकार की स्वेत मालिनता उत्पन्न होती है। जिह्वा एक हलकी स्वेत वर्ण की तह से ढक जाती है, इस स्वेताच्छादन में भी कहीं २ लाल जिह्वाकुर दृष्टिगत होते रहते हैं। इस तरह की यह मालिनता कई और ज्वरों में भी देखी जाती है। किन्तु उसका रूप स्थिर नहीं रहता। मन्थर की मालिनता स्थिर रहती है और इस के रूप में कोई अन्तर नहीं आता। यदि विकार बहुत बलवान् हों तो उस अवस्था में जिह्वा की मालिनता में यह अन्तर आता है, कि वह श्वेत के स्थान पर पीत, और पीत से श्यामता में परिवर्त्तित हो जाती है, किन्तु जाती नहीं। क्या बालक और क्या बड़े, सब में यह चिन्ह अवश्य होता है। इसमे भिन्न मन्थर ज्वर के आरम्भ से ही या तीसरे दिन शरीर से एक प्रकार की गन्ध निकलने लगती है, जो रोगी की हथेली के सूघने पर स्पष्ट आती है। एक और वैद्य को इसका इतना अच्छा ज्ञान था कि रोगी के पास आते ही कह देता था, कि इसको मन्थर ज्वर है।

1336

ज्वरारम्भ होने पर इसके ज्वर में एक यह विशेषता होती है, कि प्रभात में ज्वर न्यून होगा, किन्तु मध्यान्ह के पश्चात् ज्वर बढ़ता जायगा। दिन ढले तक ज्वर का वेग बढ़ैगा, जो अर्ध रात्री के समय तक स्थिर रहैगा, पश्चात् घटने लगेगा और प्रभात तक घटता ही चला जायगा। जिस दिन सायंकाल में इसकी मात्रा १०२, १०३ हो तो प्रभात को ९९, १०० अवश्य ही रहती है। यही क्रम—जब तक रोग में विशेष उपद्रव न बढै—बना रहेगा। जब कोई कुपथ्य किया या कराया जाय, अथवा व्याधि को प्रबलता से दबाने—दूर करने का प्रयत्न किया जाय, तो ऐसे समय ज्वर के चढाव, उतार के समय में अन्तर पड़ जाता है। सम्वत् १९८४ का जिकर है, वसन्त काल आने पर अमृतसर में मन्थर का प्रकोप बड़े वेग से बढ़ा। इस वर्ष एक नई बात यह देखने को मिली कि इस बार स्त्रियों को प्रसूत काल में यह व्याधि अधिक हुई। प्रसूता के पश्चात् हमारे देश में पुराने ढंग के गन्दे प्रसूतागार और अयोग्य धात्रियों के कारण प्रतिशत ९० स्त्रियों को प्रसूता—ज्वर या साधारण ज्वर अवश्य हो जाता है। वहां उस अवस्था में यदि किसी प्रसूता को कोई और जान्तविक ज्वर हो जाय तो प्रायः प्रसूता ज्वर होने के सिवाय और ज्वर का ख्याल भी नहीं होता। इसी कारण अनेक चिकित्सकों ने प्रसूता स्त्रियों को जब ज्वर हुआ तो—प्रागरूप में रोग चिन्ह प्रगट न होने के कारण—प्रसूता-ज्वर समझ कर उनका उपचार किया गया। जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रतिशत ९५ रोगियों की अवस्था बिगड गई। कई शोष, कई, क्षय तथा कई यकृत शोथ, उदरान्त्र-शोथ आदि रोगों से घिर गये और वह वर्षों पड़े २ चारपाई पर कष्ट उठाते रहे। प्रसूता काल होने से एक तो प्रथम मन्थर की ओर ध्यान न दिया गया, दूसरे चिकित्सा ऐसी हुई जिसने मन्थर को प्रागरूप से रूपावस्था तक न जाने दिया। जबतक मन्थर ज्वर रूपावस्था में न आवे, एक तो यह जाता नहीं। दूसरे रूपावस्था के रुक जाने पर प्रागरूप की अवधि बढ़ जाती है। मन्थर ज्वर में निश्चित अवधि

तो यह है कि ज्वर होने के एक सप्ताह तक—एक दो दिन इधर या एक दो दिन उधर—पहुंचते ही गले, छाती पर सफेद २ मुक्तावत् दाने (कण) दिखाई देने लग जाते हैं। जहा दाने दिखाई दिये, व्याधि का रूप सशय रहित हो जाता है। किन्तु जब तक दाने न निकलें, व्याधि रूपावस्था को न प्राप्त न हो, तबतक चिकित्सकों को सशय बना ही रहता है।

**प्राग्रूप का सारांश**—मन्थर ज्वर के आरम्भ होने पर एक तो विष्टब्धता, दूसरे बच्चों में तन्द्रागम या निद्रागत होकर भयभीत होना, तीसरे जिह्वा पर विशेष प्रकार की मन्थरी-मलिनता, चौथे मन्थरी गन्ध यह चार चिन्हों में से प्राय: दो तीन तो अवश्य ही हर एक रोगी में प्रकट देखे जाते हैं। जिनको देखकर मन्थर होने का अनुमान कर लिया जाता है। इन प्राग्रूपों में से विष्टब्धता तो प्रायः और अनेकों ज्वरों में स्वभाविक देखी जाती है। इसीलिये केवल विष्टब्धता को देखकर किसी भी व्याधि के रूप का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसी तरह जिन बालकों को विष्टब्धता हो उन में से कई बच्चों को देखा जाता हैं कि सोते २ चौंक उठते हैं, और रोने लगते हैं। विष्टब्धता से बड़ों में भी यह दशा उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में विष्टब्धता होने पर कइयों को बड़े बुरे भयानक स्वप्न तक दिखाई पड़ते हैं, जिसके कारण क्या छोटे क्या बड़े सब भयभीत या विचलित चित्त हो जाते हैं। दूसरे बच्चों का चौंकना या सोते २ भयभीत होना, यह लक्षण बहुधा सीतला के प्राग्रूप में भी देखा जाता है। इसलिये यह भी प्राग्रूप का सही लक्षण नहीं माना जा सकता। किन्तु यदि और लक्षणों से साथ हो तो रोग की निश्चित में सहायक होता है। जिह्वा की मलिनता भी कई ज्वरों में इस जैसी ही देखी जाती है। पर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इसमें अन्तर अवश्य दिखाई दे जाता है। यह इतनी भ्रमात्मक नहीं, जितने और चिन्ह। इसलिये यदि यह और चिन्हों के साथ हो तो मन्थर ज्वर होने का विश्वास

करने के लिये काफी स्थान होता है।

## व्यक्तावस्था और उपद्रव

ज्वर होने के पश्चात् व्यक्त रूप होने तक अर्थात् सप्ताह डेढ सप्ताह पहुंचने तक, जबकि मन्थर के दाने निकल रहे हों, या निकलने वाले हों; उस समय यदि शरीरस्थ मलों की अधिकता हो तो उसके कारण मन्थरी-मल का वेग भी बढ़ जाता है। जितना वेग शरीर पर मन्थरी-मल का बढ़ा हुआ हो, उतने ही वेग का ज्वर तथा और उपद्रव उस समय प्रकट होते हैं। किन्तु इस ज्वर वृद्धि में उस समय विशेष सहायता उदरीय मलों तथा रक्तस्थ विकारों से ही अधिक मिलती रहती है।

जिस दिन मन्थर का रूप व्यक्त होने वाला हो या हो चुका हो, प्रायः उस दिन और दिनों की अपेक्षा ज्वर का वेग अधिक होता है। यदि प्रभात को ९९ या १०० डिग्री रहता है, तो साय काल में १०१-१०२ हो जाता है; कई वार १०३-१०४ तक देखा जाता है। और यदि उदरस्थ मलों की इसको सहायता मिल रही हो शरीरस्थ विकार अधिक प्रवल हों, विष्टब्धता बढ़ रही हो तो ज्वर का वेग १०५-१०६ तक पहुंच जाता है। किसी किसी का इस से भी अधिक ज्वर देखा गया है। यह ज्वर की मात्रा विकारों के कारण कईयों में कई २ दिन तक बनी रहती है। ऐसी अवस्था में प्रभात के समय जब कि ज्वर न्यून होता है, उस समय भी १०२-१०३ तक देखी जाती है। जिस व्यक्ति को एक वार १०४ या १०५ से ऊपर ज्वर हो जाय, तो भय उत्पन्न हो जाता है कि कहीं इसकी अवस्था बिगड़ न जाय, क्योंकि प्रायः ऐसे समय अवस्था बिगड़ जाया करती है। यदि इसी प्रकार तीव्र ज्वर एक दो दिन और हुआ तो फिर मृत्यु होने में संशय नहीं रहता। क्योंकि मनुष्य शरीर में उत्ताप की एक सीमा रहती है जो ताप मापक में ९८॥ फारनहेड दी गई है। अर्थात् शरीर का उत्ताप सदा

ही इस सीमा के एक आध मात्रा न्यूनाधिक में ही रहता है । क्योंकि शरीर एक निश्चित सीमा तक ही उत्ताप सहन कर सकता है। अर्थात् अधिक से अधिक १०५ तक ताप मापक की गर्मी सहन कर सकता है; इससे अधिक की नहीं । इतनी गर्मी यदि कुछ समय तक बनी रहे तो शरीरावयवों का झुलसाने के लिए काफी होती है । किन्तु जब इस से भी अधिक बढ जाय तो शरीराग उत्ताप के कारण क्रियारहित हो जाते हैं उस समय शरीर के कार्य कर्त्ता उसी तरह घबरा कर हत बुद्धि हो जाते हैं, जिस तरह एक मनुष्य जलते हुए मकान में फस कर ।

जिस समय उत्ताप बढता है, तो हृदय की गति बेहद बढ जाती है, धमनियां फैल जाती हैं, और उनमें रक्त बडे वेग से दौड़ने लगता है, छोटी २ केशिकाएं तो उत्तप्त रक्त से परिपूरित हो कर इतनी प्रसर जाती हैं, कि उन में रक्तज शोथ की अवस्था आजाती है । ऐसी अवस्था में रक्त वृद्धि का मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव होता है । इससे मूर्छा उत्पन्न होती है । मूर्छावस्था के प्रादुर्भूत होने से मानसिक शक्तिया अव्यवस्थित कार्य करने लग जाती हैं । इस के साथ २ मस्तिष्क के भिन्न २ क्रियाशील अवयवों के जिस २ विभाग पर इसका प्रभाव पडता है वैसी ही वैसी अवस्थाएं दृष्टिगोचर होती हैं । इसीलिए, कई रोगी प्रलाप करने लग जाते हैं, कई प्रलाप रहित चुपचाप संज्ञा शून्य पड़े रहते हैं । कई प्रलाप के साथ उठ २ कर भागने, मारने आदि का प्रयत्न करते हैं, कईयों को कुछ स्मृति रहती है, कई बिलकुल संज्ञा शून्य पड़े रहते हैं । इसी अवस्था को आयुर्वेदज्ञों ने सन्निपातिक अवस्था मानी है । और उक्त भिन्न २ उपद्रवों के कारण इस अवस्था के उन्होंने कई भेद कर दिये हैं । वास्तव में सन्निपात नाम की कोई भिन्न व्याधि नहीं । प्रत्युत किसी रोग में मर्य्यादा रहित उत्ताप से उत्पन्न सन्नि—पात ( मृत्यु समीपी ) अवस्था का नाम

है। क्योंकि मूर्छा युक्त प्रलाप आदि की यह अवस्था केवल इसी एक व्याधि में नहीं देखी जाती, प्रत्युत प्लेग ( ग्रन्थिक प्रदाह ) न्यूमोनियां ( फुफ्फुस प्रदाह ) प्रसूतिक ज्वर आदि अनेकों ज्वर युक्त व्याधियों में देखी जाती है।

शरीर में मस्तिष्क एक ऐसा अंग है जिसके आधीन शरीर का सारा कण्ट्रोल रहता है, तथा यह शरीर की क्रिया-शक्ति व बोध-शक्ति का पूर्ण प्रबन्धक है। जिस समय ज्वराधिकता के कारण यह व्यथित होता है, इसके व्यथित होने के कारण शरीर के प्रत्येक प्रबन्ध में गड़बड़ी मच जाती है। उस समय फुफ्फुस व हृदय की स्वभाविक गति में भी बड़ा अन्तर देखा जाता है। ऐसी ही अवस्था में प्रायः हृदय की गति अधिक बढ कर रुक जाती है। या फुफ्फुस की गति अनियमित होकर शिथिल होने लग जाती है। जिस समय फुफ्फुस या हृदय की गति में अधिक अन्तर आता है, यह मर्य्यादा रहित गति करने लगते हैं, उस समय ही मृत्यु का भय उत्पन्न हो जाता है। ऐसे समय वैद्य को रोगी की अवस्था की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये। और ऐसे समय में फुफ्फुस व हृदय की—आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रों से—अच्छी तरह परीक्षा करते रहना चाहिये। और रोगी के घर वालों से इस बात का भी पता लेना चाहिये, कि इस रोगी को हृदय व फुफ्फुस सम्बन्धी कोई रोग तो नहीं था? क्योंकि रोगी को उक्त अंगों के रोग हों तो ऐसी अवस्था में गतिहीन होने का अधिक भय रहता है। बहुत बार देखा गया है कि ऐसी अवस्था के रोगी की मृत्यु होने का ठीक २ ज्ञान अच्छे २ अनुभवी चिकित्सक को भी नहीं होता। कभी २ रोगी को अच्छी अवस्था में अभी छोड़ कर आये हैं और थोड़ी देर में पता लगा, कि जिस रोगी को देख कर आये थे, वह चलता बना।

---

# रूपावस्था या व्यक्त लक्षण ।

जिस रोगी को ज्वर होने के डेढ सप्ताह पश्चात् गले व छाती पर मुक्ता-वत् दाने प्रादुर्भूत व तिरोभूत होने लग जाय। उस समय एक इसी चिन्ह को देखकर निश्चित हो जाता है कि यह मन्थर ज्वर है। यह दाने प्रथम एक दो दिन दिखाई देकर फिर अन्तरहित हो जाते हैं, तथा दूसरा सप्ताह समीप आने पर फिर प्रादुर्भूत होते हैं इस तरह एक दो या तीन चार दिन तक प्रादुर्भूत व तिरोभूत होते रहते हैं। दानों के प्रादुर्भूत होने का समय प्रायः प्रभात से लेकर मध्यान्ह तक अधिक देखा जाता है। यह दाने इतने सूक्ष्म होते हैं कि कभी २ दृष्टि काम नहीं करती। किन्तु यदि छाती व गले पर हाथ फेरा जाय तो हाथ को इनका स्पर्श ज्ञात होता है, जिससे इनके होने का ज्ञान कर लिया जाता है। जिस समय रोग का रूप व्यक्त हो जाता है उसके पश्चात् यदि कोई उपद्रव या विकार न बढ़े, कुपथ्य न किया जाय, तो उक्त क्रम में कोई और विशेष परिवर्तन नहीं देखा जाता। यही अवस्था दो सप्ताह तक रहकर रोग दब जाता है, अर्थात् इसकी अवधि दो सप्ताह है।

आन्तरिक विकार बढ कर यदि ज्वर तीव्र हो जाय जिसकी मात्रा १०४-१०५ तक पहुँचे तो ज्वर के तीव्र होने पर केवल मस्तिष्क हृदय फुप्फुस ही प्रभावित नहीं होते, प्रत्युत यकृत, प्लीहा आदि आन्तरिक अंगों पर भी बड़ा प्रभाव होता है। कई व्यक्तियों का यकृत बढ़ जाता है, कइयों को फुप्फुस प्रदाह हो जाता है, कइयों के प्लीहा, अन्त्र आदि और अंग भी विकृत हो जाते हैं। इस अवस्था में जो उपद्रव उद्भूत होते हैं, वह यदि बने रहें तो स्वतन्त्र रोग का रूप ग्रहण कर मारक सिद्ध होते हैं। कई रोगी फुप्फुस प्रदाह से, कई यकृत उदर-अग्निवृद्धि से मृत्यु के

ग्रास बन जाते हैं। यह उपद्रव या बुरी अवस्थाएं प्रायः ज्वर की अधिकता से ही आती हैं। यदि ज्वर १०४ से अधिक न बढ़े तो प्रायः कोई भयंकर या मारक उपद्रव उद्भूत नहीं होते। ऐसी दशा में रोगी धीरे २ कोई दो सप्ताह तक रोग से मुक्ती पा जाता है।

## प्राच्य और पाश्चात्य व्यक्त रूप में अन्तर।

भारत, ईरान, मिश्र, तुर्किस्तान, फारस आदि देशों में जो मन्थर के दाने व्यक्त होते हैं वह मुक्तावत् सूक्ष्म व मुक्तावत् श्वेत होते हैं। इनका उद्गम ग्रीवा भाग व छाती पर से होता है। और यह अधिक से अधिक पेट, पृष्ट तक—अधिक हुए तो बाहु व जघन भाग तक—पहुंच जाते हैं। इससे आगे हाथों पैरों पर व मुंह पर नहीं निकलते। मुक्तावत् दानों की आकृति का मन्थर इन्हीं देशों में होता है। फ्रांस, इटली, जर्मन, इंगलैंड आदि देशों में यह नहीं होता। वहां जो मन्थर होता है उसमें दाने नहीं निकलते, प्रत्युत मुक्तावत् दानों के स्थान पर रक्त वर्ण के छोटे २ गोल धब्बे प्रथम पेट पर प्रादुर्भूत होते हैं और वह धीरे २ छाती पृष्ट व बाहु जघन देश तक वेगानुसार प्रसर जाते हैं। इनका वर्ण कच्ची ईंट या हिरमिजी के वर्ण का होता है। यह धब्बे अंगुली से दबा देने पर दब जाते हैं और छोड देने पर पुनः दिखाई देने लगते हैं। इस तरह का धब्बों वाला मन्थर हमारे देश में इतना न्यून है कि क्वचित ही देखा जाता है। हमने हजारों रोगियों में से केवल एक रोगी देखा था जिसको यह धब्बे प्रादुर्भूत हुए थे, वह भी अकेले नहीं, उसके पूर्व मुक्तावत् मन्थर के दाने प्रादुर्भूत हो चुके थे, इस के साथ ही साथ यह धब्बे भी देखे गये थे। एलोपैथी निदान में मुक्तावत् दानों वाले मन्थर का वर्णन किसी भी चिकित्सक ने नहीं किया, उनके निदान

में धब्बे वाले मन्थर का ही वर्णन देखा जाता है, इसीलिये कई डाक्टर या वैद्य जो कालेज से निकलते हैं उनको इस रोग में मुक्तावत् दाने देखकर बड़ा भ्रम हो जाता है। वह इसे कोई भिन्न ही व्याधि समझ बैठते हैं। देसी वैद्य इसे मन्थर, मोतीझारा, मोती माता, छोटी माता, मोहर्रका, गलेवाली, कण्ठीमाता आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। किन्तु एलोपैथी वाले टाइफाइड का भेद मानकर इसकी चिकित्सा करते हैं। क्योंकि उनका मत है कि यह वास्तव में टाइफाइड नहीं टाइफाइड भेद है। मैं इसे टाइफाइड ही मानता हूं, भेद नहीं। दोनों प्रकार के मन्थर ज्वरों में जो दानों और धब्बों का भेद है यह देशकाल परिस्थिति पर निर्भर है, रोग के कारण पर नहीं। रोग का कारण एक है, हा देश काल परिस्थिति से उसके कार्य व्यवहार में ही अन्तर आया हुआ है; और बात कुछ नहीं।

## उपशयावस्था या तृतीयावस्था।

यह इस रोग की उस अवस्था का नाम है जहा मन्थरी विष के विपरीत शरीर प्रतिविष बनाकर व्याधि मूल को नष्ट करने की चेष्टा में लग जाता है। जिससे व्याधि का रूप घटता जाता है और मनुष्य स्वास्थता लाभ करता जाता है। इस तृतीयावस्था में आकर यदि कुपथ्य न हो तो व्याधि अपने अवधि पर आकर शान्त हो जाती है। और यदि कोई कुपथ्य हो जाय तो फिर ज्वर, रेचनादि उपद्रव उद्भूत हो जाते हैं और इसकी अवधि बढ जाती है। वास्तव में अवधि के बढ़ने में मुख्य कारण कुपथ्य से प्रतिविषोत्पादन की क्रिया में बाधा तथा मलज विकारों की अधिकता होती है। कुपथ्य से बढ़ा हुआ उदरीय दोष गौण रूप से फिर इस को स्थिर रखने में सहायक बन जाता हैं, इसी से अवधि बढ़ जाती है। किन्तु

इस तीसरी अवस्था में आकर पुनः जो उपद्रव बढते हैं वह इतने भयंकर नहीं होते। जितने दूसरी अवस्था के होते हैं।

जिन रोगियों में भिन्न २ अवस्थाओं मे भिन्न २ उपद्रव प्रादुर्भूत हुए थे, तथा वह किस तरह दबाये गये, हम कुछ इसका वर्णन देंगे।

## भिन्न २ अवस्था में देखे हुए उपद्रव व रूप।

एक लड़की जिसकी अवस्था १० वर्ष की थी, शरीर दोहरे बदन का हृष्ट, पुष्ट निरोग था। आरम्भ में दो दिन कब्ज रही, तीसरे दिन प्रभात के समय ज्वर हो गया। कब्ज के कारण शिर में दर्द भी एक दिन पहिले से था, जो ज्वर होने पर बढ गया। ज्वर होने पर मुझे बुलाया गया, क्योंकि उनके यहां आगे भी मुझे ही चिकित्सा के लिये बुलाया जाता था। रोगी को देखकर मैंने सर्व प्रथम सरल रेचन की औषध दी। और इसके साथ ही सूचित कर दिया कि भोजन बिलकुल बन्द रहे। अगले दिन रोगी को जब फिर देखा तो उसमें निम्न लिखित रोग का प्रागूरूप दिखाई दिया। जिह्वा पर श्वेत मलिनता चढ़ी हुई थी, जिसमें कहीं २ जिह्वांकुर दिखाई दे रहे थे। साधारण ज्वर जो हुआ था वैसा ही बना रहा। तृषा अधिक थी, शिरःशूल भी नहीं घटा। पेट में भी कुछ दर्द अनुभव करती थी। मुझे जिह्वा वर्ण और उदर की मन्द पीड़ा, इन दो चिन्हों ने मन्थर के होने का अनुमान कराया। तीसरा कारण यह भी था कि उस समय शहर में मन्थर ज्वर का प्रकोप हो रहा था। मैंने अपने अनुमान की सूचना घर वालों को दे दी। और भोजन बिलकुल बन्द कर दिया, यहा तक कि दूध भी बन्द कर दिया, सिवाय जल या गावजवा अर्क के और कोई वस्तु न देने की [illegible] पाबन्दी कर दी।

ज्वरारम्भ में हम प्रायः लघन देते हैं, उस लंघन में क्वाथ व जल अवश्य दिये जाते हैं और कुछ नहीं। हम ऐसा क्यों करते हैं? हमारा यह कई वर्ष का अनुभव है कि जब कोई भी सञ्चारी-ज्वर का प्रारम्भ हो या साधारण का, यदि आरम्भ में लघन न दें, तो उदरी दोष बढ जाते हैं और रोग प्रवल हो जाता है। साधारण ज्वर हो तो वह भी स्थिर हो जाता है और विशेष हो तो उस का वेग–उदरी दोषों के कारण बड़ा प्रवल हो जाता है। मैं जहा तक निगाह डालता हू, ज्ञात होता है कि हमारे ऋषियों ने भी इस बात को खूब समझा था, इसी लिये तो उन्होंने "ज्वरादौ लघन कुर्य्यात्" का सार्वभौमिक सिद्धान्त स्थिर किया था।

हजारों बार का हमारा अनुभव है कि यदि व्याधि प्रवल होने वाली हो तो उसके आरम्भिक उपद्रव भी बलवान् दिखाई देते हैं। उस अवस्था में प्रथम मृदु विरेचन देकर साथ में लघन क्रम जारी रक्खा जाय तो व्याधि का वेग प्रवल न होगा। इसीलिये उक्त रोगी का आरम्भ से लघन का विधान दिया, दिन में दोपहर न० १ अर्क गावजवा से और रात्री में सरल रेचन देना आरम्भ किया। रेचनौषध इतनी मृदु होनी चाहिये कि रोगी को एक बार शौच खुल करके ही आवे, अतिसरन न हो। मन्थर ज्वर में कभी भी तीव्र रेचन की औषध न देनी चाहिये। तीव्र रेचन से अन्त्राशय में दहन (इरीटेशन) होता है, जिस से अन्त्र क्रिया बिगड़ जाती है, रेचन आरम्भ होने पर प्रायः बन्द करने कठिन हो जाते हैं। इसका मूल कारण–एक तो रोग कारिणी शक्ति का प्रभाव, दूसरे रेचनौषध की तीक्ष्णता, इन दोनों के उग्र प्रभाव से अन्त्र क्रिया शिथिल हो जाती है तथा शोथापन्न अवस्था के आने पर स्तम्भन व ग्रहण शक्ति जाती रहती है। उलटे शरीर का तरल भाग अन्त्र में टपकने लगता है, इसीसे द्रव रेचन आरम्भ हो जाते हैं। यदि इस रेचन के समय कोई तीव्र विष्टम्भ कर औषध जैसे अफीम आदि

का प्रयोग कर दिया जाय तो महा अनर्थ हो जाता है, अन्त्र की ग्राह्य शक्ति तो शोथ के कारण ठीक नहीं होती, किन्तु अफीम आदि तीव्र संकोचक वस्तुएं अन्त्र में सकोचन उत्पन्न कर देती हैं, जिससे मल तो रुक जाता है पर अन्त्र की ग्रहण शक्ति न ठीक होने के कारण उससे अध्मान, उदर शूल आदि भयंकर उपद्रव खड़े हो जाते हैं। इसीसे रोगी संकटापन्न अवस्था की तरफ और बहुत तीव्र गति से बढ जाता है। चिकित्सक को ऐसे समय खूब ध्यान रखना चाहिए।

उक्त रोगी में तीसरे दिन तन्द्रा बढी, इसको गनूदगी भी कहते हैं, दिन में लड़की तन्द्रित रहती थी, जिसको देखकर निश्चित हो गया कि इसको मन्थर ही है। अगले दिन खूबकलादि क्वाथ से दोपहर नं० १ दोनों समय देने लगा, तथा रात्री को वही सरल रेचन। सातवें दिन गले पर मुक्तावत् दानों का प्रादुर्भाव हुआ, जिसदिन मन्थर का रूप व्यक्त हुआ उस दिन ज्वर अधिक रहा, अगले दिन भी यही अवस्था रही।

रोगी की तीसरे दिन खराब अवस्था—इसी रात को रोगी का एक सम्बन्धी जो ग्रामीण चिकित्सक था आगया; रोगी की अवस्था देख कर कहने लगा जब यह ज्वर होता है तो पेट में नुक्स हो जाता है। जब तक पेट का नुक्स दूर न हो रोगी जल्दी राजी नहीं होता। इसके लिए सब से अच्छा उपाय यह है कि नित्य प्रति पेट पर उर्द के आटे की रोटी बना कर गरम २ बांध दिया करो। इससे बहुत जल्दी आराम आवेगा। घर वालों ने कहा चलो कोई खाने की दवाई थोड़े ही है। इलाज तो स्वामी जी कर ही रहे हैं। आज रोटी बाध दो, अगर कल कुछ लाभ दिखाई दिया तो अगले दिन फिर बांध देना। उन्होंने उर्द के आटे की रोटी बना कर गरम २ पेट पर बाध दी, दो घन्टे बाद अफारा हो गया। वह कहने लगा, देखा! मल उखड़ा है। फिर

गरम करके बाध दो, जिसका परिणाम यह हुआ कि रात्रि को कोई १२ बजे के लगभग ज्वर की मात्रा १०५ होगई, पेट पर अध्मान अधिक हो गया, रोगी मूर्च्छावस्था की ओर चल पडा, प्रलाप के लक्षण प्रगट होने लगे। वह कहने लगा कोई चिन्ता की बात नहीं इस तरह के उपद्रव देखे जाते हैं। आप तो रात्रि को ही चार बजे की गाडी चलता बना। घर वाले मेरे आने तक बड़ी चिन्ता में रहे। प्रभात को जब मैंने जाकर रोगी की आकृति देखी, बड़ा विचलित हुआ। पूछा कि सच २ बतलाओ! कल क्या दिया था, जो रोगी पर यह अवस्था आई। क्योंकि मुझे रोगी की अवस्था देख कर यह संशय हो गया था कि इन्हों ने कोई न कोई वस्तु खाने के लिये अवश्य दी है, इसलिए ऐसी अवस्था आई। घर वालों ने कसम खाई कि हमने कोई वस्तु खाने के लिए नहीं दी। किन्तु मुझे विश्वास न आता था। क्योंकि मेरा चिकित्सा क्रम इतना विश्वास प्रद है कि यदि रोगी ठीक क्रम पर चले, तो कभी कोई उपद्रव नहीं बढते। इसीलिए मुझे उनके सौगन्ध खाने पर भी विश्वास नहीं आया। मैं बारम्बार कहता था कि बिना कुपथ्य के यह अवस्था आ ही नहीं सकती। जब तक तुम सच न बतलाओगे मैं चिकित्सा नहीं करूगा। इतना कह कर मैं चलने लगा, उन्होंने मेरी बाह पकड़ ली, कहने लगे एक भूल जरूर हुई है। वह यह, कि हमारे गाव का एक सम्बन्धी कल आया था, उसने रात्रि को रोटी पेट पर बधा दी थी, और कुछ नहीं। दो बार रोटी बांधने पर रात्रि में ही अध्मान होगया था तथा उसी समय ज्वर बढ गया था, किन्तु उसने कहा कि ऐसा हो ही जाता है, कोई चिन्ता न करो। मैंने कहा! उसे ही अब बुलाकर चिकित्सा कराइये?। अब यह अवस्था वही आकर ठीक करेगा? उन्होंने कहा कि वह तो प्रभात को ही अपने घर चला गया। जो कुछ भूल हुई उसके लिये उन्होंने क्षमा याचना की और भविष्य में कोई भूल न होगी, यह विश्वास दिलाया। यद्यपि रोगी की

अवस्था बहुत बिगड़ गई थी, ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार नष्ट हो गया था, न सुनती थी, न बोलती थी। देखना भी भयकर था, ज्वर की मात्रा १०५ प्रभात में थी, जिसको देख कर विश्वास होता था कि रात्रि में ज्वर अवश्य ही १०५ से ऊपर रहा होगा। किन्तु इनके साथ ही सायंकाल को भी ज्वर के अधिक बढ़ने का भय था, क्योंकि उदर में अध्मान जैसा का तैसा था। मैंने घर वालों से कह दिया कि यदि आज मध्यान्ह के पश्चात् ज्वर की मात्रा अनुचित न हुई तो मैं चिकित्सा करूंगा, यदि बढ गई तो फिर इनके बचने की आशा नहीं।

वह कहने लगे! कुछ हो, आप चिकित्सा करें। मैंने सर्व प्रथम अध्मान उतारने का प्रयत्न किया। ग्लीसरीन की बत्ती अंगरेजी दूकान से मंगवा कर मल मार्ग में चढवा दी, जिससे शौच आजाय। क्योंकि, जब तक अध्मान न दूर हो ज्वर बढ जाने का भय था। बत्ती करने पर आध घन्टे तक कुछ मल उतरा और अध्मान घट गया। जिससे आशा हुई कि सायंकाल के समय ज्वर नहीं बढ़ेगा। दोपहर के पश्चात् दो बजे रोगी को फिर देखा ज्वर १०४ हो गया था, किन्तु और बढ़ने का भय था, जिसको रोकने के लिए निम्न लिखित उपचार किया। एक पाव अंगूरी सिरका, एक पाव अर्क गुलाब, एक सेर जल, तथा एक सेर बरफ एकत्र कराकर मिट्टी के पात्र में भरवा दिया और कहा कि लो इस घोल में आठ तह कपड़े की बना कर भिगोलो और रोगी के मस्तक पर रखते रहो। पांच २ मिनट के पश्चात् जब २ कपड़ा गरम हो जाय, उतार कर इसी जल में फिर भिगो कर ठण्डा कर के फिर रख दिया करो, इस दिन कोई औषध खाने के लिए नहीं दी। इस उपचार से न ज्वर बढ़ा न कोई और उपद्रव बढा, रोगी उसी मूर्च्छावस्था में पड़ा रहा। अगले दिन वही उपचार जारी रहा। पांच दिन के पश्चात् पुनः मन्थर के दाने प्रादुर्भूत हुए, जो लगातार पांच दिन तक निकलते रहे। रोगी पर एक तो रोग का बेग

प्रबल होगया था, दूसरे लघन हो रहे थे। इसीलिए, रोगी बहुत निर्बल होता गया। किन्तु, चेहरे की कान्ति यथावत् स्थिर रही। रोगी को खूब खुलकर मन्थर के दाने भी निकले, और २१ दिन की अवधि भी बीत चली, किन्तु ज्वर न टूटा। उत्ताप वही १०१ प्रभात में और १०२, १०२॥ शाम को होता रहा। घर वालों ने पूछा क्या कारण है जो ज्वर नहीं टूटता। मुझे रोगी की अवस्था देख कर निश्चित होगया कि अभी मन्थरी विष का वेग यथावत् है, प्रति-विष का अभी प्रादुर्भाव नहीं हुआ, इसीलिए यह एक अवधि और लेगा। घर वालों को कहा, अभी २१ दिन और लगेगा, क्योंकि इसकी अवधि बढ़ गई है। औषधि में कोई परिवर्तन नहीं किया गया, वही २ मात्रायें खूबकलादि क्वाथ से दोपहर न० १ की, और रात्रि को सरल रेचन देता रहा। दो सप्ताह तक रोगी उसी मूर्च्छावस्था में पड़ा रहा। तीसरे सप्ताह मन्थर के कुछ दाने दिखाई दिए और धीरे २ मूर्च्छावस्था घटने लगी, जब मूर्च्छावस्था घटने लगी तो रोगी की अत्यधिक निर्बलता देख कर पूर्ण लघन बंद कर दिया गया। अब उसको दुग्ध का जल आधी २ छटाक करके चार बार देने की व्यवस्था की।

अब रोगी की मूर्छावस्था तो जाती रही, किन्तु लड़की कानों से बहरी और गूंगी हो गई। न किसी की बात सुनती थी, न बोल सकती थी। सिर के बाल गिर गये। छटे सप्ताह के अन्तिम दिनों में मन्थर के कुछ दाने निकले, परन्तु ज्वर प्रभात में ९९ और साय को १०१ से न्यून न हुआ। जब दो अवधियां व्यतीत हो गईं, चार पांच दिन और भी निकल गये, ज्वर न टूटा तो घर वालों को चिन्ता हो गई। उन्होंने इसका कारण पूछा, मैंने कहा अभी भी इस इसके अन्दर मन्थर का प्रभाव बना है, गया नहीं। क्योंकि मैं समझता था प्रति विष अब तक उत्पन्न नहीं हुआ। सम्भव है इक्कीस दिन और ले। डेढ़

मास व्यतीत होगया, निरन्तर उपवास दिया गया, एक तो व्याधि का वेग, दूसरे भोजन का अभाव इन दोनों कारणों से लड़की अत्यन्त कृश हो गई थी, शरीर पर मांस का चिन्ह न रह गया था। पिञ्जर पर त्वचा इस तरह चढ़ी हुई दिखाई देती थी, जिस तरह बनावटी पिञ्जर पर कृत्रिम त्वचा। घर वालों को इस बार हमारी चिकित्सा से विश्वास हिल गया। यद्यपि चिकित्सा मेरी करते रहे, परन्तु मेरे पीछे डाक्टर को बुला कर दिखाया। एक डाक्टर तो जवाब दे गया कि यह रोगी बच नहीं सकता, इनके अन्त्राशय में क्षय ग्रन्थियां उत्पन्न होगई हैं। दूसरे रोगी इतना कृश है कि जरा सा कारण पाते ही हार्टफेल (धुकधुकी बन्द) हो जाने का भय है। उन्होंने एक बहुत बड़े डाक्टर को बुलाकर दिखाया। उसने मल व थूक की यान्त्रिक परीक्षा की। किन्तु सिवाय मन्थर कीटाणुओं के और किसी रोग के कीटाणुओं का चिन्ह नहीं मिला। इतना होने पर भी उसने कहा रोगी का बचना कठिन है। जब यहां से भी सन्तोषप्रद उत्तर न मिला, तो एक प्रसिद्ध वैद्य को बुलाकर दिखाया गया। उसने रोगी को देखते ही मृत्यु का समय भी बतला दिया। घर वाले तीन दिन तो इस तरह दिखाते रहे, चौथे दिन मैं गया, सारा परिवार उदास था, मैंने पूछा क्यों उदास क्यों हो ? उन्होंने कहा कि सच बात तो यह है कि हमने दो डाक्टर और एक वैद्य को दिखाया है, किन्तु सबों की सम्मति है कि रोग असाध्य हो चुका है, वैद्य जी तो परसों तक इसके मर जाने की भविष्य वाणी भी कर गये हैं। इसलिये सारे परिवार में निराशा छाई हुई है, यही उदासी का कारण है। मैंने उन्हें धैर्य दिया और विश्वास दिलाया कि यदि आप मेरी चिकित्सा मेरे कथनानुसार जारी रखेंगे तो रोगी मृत्यु के मुख में नहीं पड़ेगा। मैं कई ऐसी २ अवस्था के रोगी राजी कर चुका हूं। आप दो सप्ताह धैर्य्य धरें और देखें कि मेरा कथन सत्य होता है या औरों का। घर वाले शायद मेरी चिकित्सा

छोड भी देते यदि कोई चिकित्सक उन्हें यह विश्वास दिला देता कि रोगी बच जायगा। किन्तु ऐसा आशाप्रद उत्तर किसी भी डाक्टर या वैद्य ने न दिया, इसीलिए मेरी चिकित्सा जारी रही। इस सप्ताह मेरी चिकित्सा में इतनी विशेषता रही कि एक तो दोषहर न १ के साथ दोषहर न. २ की भी एक २ मात्रा दी जाने लगीं। और अहार के लिए दुग्ध जल और दो चार अगूर के दाने आधा सेब का रस बस, इतना अहार आरम्भ कर दिया। सवा दो मास व्यतीत होने पर फिर मन्थर के दाने निकलने आरम्भ हुए और जो सरल-रेचन औषध दी जाती थी, उसके प्रभाव से अब २। मास में जाकर मन्थरी मल पेट से उखड़ा, जो उदर में ग्रन्थियां दिखाई देती थीं, वह घटने लगीं। बड़ा ही गन्ध पूर्ण श्याम वर्ण का लेहसदार मल निकलने लगा, जिसे देखते ही मुझे आशा हो गई कि रोगी का ज्वर दो चार दिन का ही महमान है। इस बार मन्थर के दाने लगातार तीन चार दिन तक निकलते रहे ज्वर की भी साधारणतया अधिकता रहा। इस समय रोगी का शरीर इतना कृश था कि सूर्य के प्रकाश की ओर उसकी बाहु की जाय तो बाहु की युग्म नलियोंके मध्य से प्रकाश की लालिमा दिखाई देती थी। शरीर की त्वचा, धमनियें, स्नायुए सब अत्यन्त पतली पड़ गई थीं। निर्बलता इतनी अधिक थी कि रोगी अपना हाथ ऊपर नहीं उठा सकता था। तकिया के सहारे बिठाने के समय लड़की अपनी गर्दन को नहीं सभाल सकती थी, वाणी इतनी क्षीण थी, कि बोलते समय चिड़िया के बच्चे जैसा सूक्ष्म शब्द निकलता था। इस समय घर वालों को खूब सावधानी से उठाने बिठाने की सम्मति दी। क्योंकि ऐसी अवस्था में भय था कि कहीं असावधानी से हिलाने या करवट बदलने पर हृदय की गति बन्द न हो जाय। इस समय भय को दूर करने के लिए, हृदय की गति को बल देने के लिए वसन्त मालती की दो मात्रायें नित्य दी जाने लगीं। दाने निकलने के तीन दिन तो कुछ २ ज्वर अधिक

रहा, फिर घटते२ टूट गया। अब नाड़ी की गति शुद्ध हलकी निरोग अवस्था सूचक चलने लगी, उदर की ग्रन्थिया मिटगईं। भोजन की रुचि हुई, धीरे२ थोड़े२ फल चढाये जाने लगे, शरीर में रक्त की मात्रा दिखाई देने लगी, जो देखते२ दिन दूनी रात चौगनी बड़े वेगसे बढ़ने लगी। चार पांच दिन व्यतीत होने पर लड़की को भूख इतनी बढी कि सारे दिन खांव २ ही करती रहती थी। और खाने के लिये रोती रहती थी। जब अन्न प्राशन हुआ तो भूल से एक दिन अधिक भोजन दिया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसके उदर में पुनः कुछ नुक्स उत्पन्न हो गया। किन्तु फिर एक दो दिन फलों पर रक्खा गया तो तबीयत बिलकुल ठीक होगई। आज भी वह लडकी इस भयङ्कर अवस्था से गुजर कर जीवन का सुख ले रही है, और अमृतसर में ही है।

सारांश—मन्थर ज्वर एक अवधि बन्धी ज्वर है। इसको दूर करने के लिये या इस ज्वर को अवधि के पूर्व बलात् उतारने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। जो इस ज्वर को बलात् दूर करने का या उतारने का प्रयत्न करते हैं, या रोग कारणी शक्ति को किसी औषध प्रयोग से अवधि से पूर्व निवृत्त करने का प्रयत्न करते हैं, वह बड़ी भूल करते हैं। इसी भूल से तो उक्त रोगी का रोग बिगड़ गया और ऐसा बिगड़ा कि २॥ मास तक बना रहा, तब कहीं अत्यन्त सावधानी के साथ चिकित्सा क्रम बनाये रखने पर रोगी की जान बची। पेट पर गरम २ रोटी बाध देना देखने में एक मामूली बात थी, किन्तु उसका परिणाम कितना भयंकर हुआ। इसी तरह कोई भी कुपथ्य चाहे वह साधारण हो, रोगावस्था में होने पर उसका परिणाम भयंकर ही देखा जाता है।

## एक और रोगी तथा क्षय-ग्रन्थियों का भ्रम

एक और लड़का जिसकी अवस्था ९–१० वर्ष की थी, मन्थर ज्वरसे प्रपीड़ित हुआ। उस के माता पिता डाक्टरी चिकित्सा के भक्त थे, इसीलिए आरम्भ से वह

एलोपैथी चिकित्सा के आधीन रहा। रोगावस्था में इसी तरह किसी खान पान कुपथ्य से मन्थर ज्वर विगड गया और शरीर प्रति विष न बना सका, चामक शक्ति न उत्पन्न हुई। इसीलिए रोग की अवधि बढ गई। कई डाक्टर, वैद्य चिकित्सा कर गये, किन्तु रोग बढ़ता ही गया ज्यों २ दवा की। तीन मास के पश्चात् मुझे दिखाया गया, रोगी अत्यन्त कृश होगया था। और देखने पर उसकी कृशता से यह बोध होता था कि इसको शोष होगया है। उदर में पन्द्रह बीस ग्रन्थियां भी थीं, जिनको देखने से चिकित्सक को चय ग्रन्थियों का भ्रम ही नहीं, पूर्ण विश्वास होता था। छः डाक्टर तो यह सम्मति दे गये थे कि इस की आंतों में चय ग्रन्थिया उत्पन्न होगई हैं, और अब इसकी कोई चिकित्सा नहीं। पर वासत्व में वह चय नहीं, मल ग्रन्थिया थीं। क्योंकि मुझे इसमें कोई भी चय ग्रन्थि के लक्षण नहीं दिखाई दिये। यह उदर ग्रन्थिया मन्थरी-मल की विशेष विकृति होने के कारण उत्पन्न हुई हुई थीं, शरीर की कृशता चय-शोष की द्योतक नहीं, मन्थरी—शोष की द्योतक थी। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि आप चिन्ता न करें, बालक राजी हो जायगा। किन्तु, राजी होने में चाहे देर हो, सात आठ सप्ताह लग जाय, पर राजी हो जायगा। मेरी तसल्ली पर उन्हों ने चिकित्सा आरम्भ कर दी। भोजन, दूध, सब बन्द करा दिया। केवल एक छटाक अगूर, १ सेब, एक मीठा, चौबीस घंटे में भोजन के लिए दिया। और खूब कलादि क्राथ से दोपहर नं० १व दोपहर न०२ और इसके साथ, रात्री को सरल-रेचन वटी नित्य देने लगा। एक सप्ताह भी अभी नहीं बीता था, मन्थरी-मल उखड़ गया, रोगी को स्वयम् रेचन आरम्भ हो गये। दिन रात्री में तीन २ चार २ वार आने लगे। घर वाले समझे कि स्वामी जी ने कोई रेचनौषध दी है। इसलिये, वह रेचन आने पर रोगी की कृशता देखकर घबराये और कहने लगे कि इसके रेचन बन्द कर

दें। मैंने कहा खबरदार रेचन बन्द न करना, नहीं तो उपद्रव खड़े हो जायगे। यह पेट की गाठे अपने आप घुल २ कर निकल रही हैं। इसलिये, इन्हें निकल जाने दो। यही तो बीमारी का कारण बनी हुई हैं, रेचन के चौथे दिन प्रभात में बडा ही गन्ध पूर्ण मल उतरा, जो मुझे दिखाया गया। मैंने कहा अब चिन्ता न करें। बस आज और कल में ही बालक रोग से छुटकर निरोगता की ओर बढेगा, दो दिन थोडे २ छिछड़े ( झिल्ली ) आदि पदार्थों से युक्त गन्ध पूर्ण मल और निकलता रहा, पेट की सारी ग्रन्थिया मिट गई। मन्थरी-मल छुट गया, इस के तीसरे दिन धीरे २ ज्वर उतर गया। और कुछ दिनों में ही रोगी रोग से मुक्त होकर अपनी असली अवस्था पर आ गया। अब भी यह बालक जिन्दा है और अमृतसर में है।

## इसी तरह का एक और रोगी।

एक लडकी जिस की आयु १४ वर्ष की है। सात मास पूर्व मन्थर ज्वर हुआ और चिकित्सकों की अनर्गल चिकित्सा से यह बिगड गया। जिसके कारण रोगी को सात मास चारपाई पर पड़े हो गये, डाक्टरों ने अच्छी तरह देखकर प्रमाण पत्र दे दिया, कि इस के उदर में क्षय ग्रन्थिया उत्पन्न हो गई हैं। गले में भी क्षय ग्रन्थिया ( कण्ठ माला ) प्रादुर्भूत हो चुकी हैं, इसलिये रोगी असाध्य है, बचने की कोई आशा नहीं। सात मास के पश्चात् मुझे दिखलाया गया, उदर अत्यन्त कठिन हो रहा था, पूर्णतया कठोदर या ग्रन्थ्योदर के लक्षण थे, उदर में इतनी कठिनता थी कि परीक्षा से कुछ पता नहीं लगता था। ऐसा ज्ञात होता था कि शोप रोग है। किन्तु इसके यकृत प्लीहा भी खराब थे, एक तो उसे नित्य ज्वर बना रहता था, दूसरा रात्री में शीत लगकर बढ जाता था। मैंने रात्री ज्वर की परीक्षा की तो ज्ञात हुआ कि यह रात्री को शीत देकर चढने वाला ज्वर, मन्थर ज्वरसे भिन्न है और यह विषम ज्वर है। क्योंकि रात्री के समय

ज्वर होने पर शिरः शूल, कटि शूल भी कुछ होता था और प्रभात को कुछ कुछ प्रस्वेद आकार ज्वर घट जाता था । और सिर दर्द इत्यादि भी जाते रहते थे। इस ज्वर की ओर किसी भी चिकित्सक का ध्यान न गया, वह प्रभात के समय प्रस्वेद का आना क्षय के लक्षणों में गिनते थे। किन्तु मेरा अपना अनुभव हैं कि एक रोग में कई २ और रोग भी हो जाते हैं। एक ज्वर में कई २ ज्वर भी हो जाते हैं। यहा भी मन्थर ज्वर के बीच में विषम ज्वर आ घुसा था । सबसे प्रथम मैंने उस रोगी को विषम ज्वर निवारण की औषध दी और साथ में सरल रेचन वटी; भोजन बन्द कर दिया। दुग्ध-जल, अगूर, एक दो मीठा फल यह २४ घंटे का आहार निश्चित किया। पांचवें दिन विषम ज्वर टूट गया, रात्री में शीत लगकर ज्वर का चढ़ना, शिर: शूल, प्रभात में प्रस्वेद का आना यह सब जाते रहे। अब केवल मन्थर-ज्वर रह गया, पुन. हमने मन्थर की चिकित्सा आरम्भ कर दी, जो पीछे वर्णन की है। एक सप्ताह चिकित्सा करने पर पेट का एक हिस्सा ( प्लीहा की ओर का भाग ) नरम हुआ और स्पर्श से ज्ञात हुआ कि इस की प्लीहा बढ़ रही है। यकृत भाग की ओर अभी उदर उसी तरह कठिन था। पाच दिन के पश्चात् उदर कुछ और नरम हुआ, यकृत वृद्धि का भी पता लग गया रोगी में बहुत ही मन्द गति से यह परिवर्तन होने लगा। शरीर अत्यन्त कृश हो रहा था,एक सप्ताह और चिकित्सा करने पर उदर की कठिनता जाती रही। जिस दिन से मैंने चिकित्सा आरम्भ की थी, उसी दिन से सरल-रेचन वटी इधर दिन को, उधर रात्रि को देता रहा। जिस से दोनों समय बराबर एक २ या किसी दिन दो भी-रेचन आते रहे। मल, सुद्दे-जमी हुई ग्रन्थिया निकल रही थीं, अब जाकर पेट नरम हुआ और स्पर्श से उदर की ग्रन्थियां भी दिखाई दीं। धीरे २ रोगी की अवस्था सुधरने लगी, एक सप्ताह भी व्यतीत

न हुआ कि मन्थरी-मल खारज होने लगा, गन्दे, बदबूदार, लेहसदार दस्त आने लगे । और इन रेचनों के बाद ही मन्थर ज्वर टूट गया यद्यपि उदर अभी पूर्ण तथा शुद्ध नहीं हुआ था, यकृत, सीहा अपनी पहली अवस्था पर नहीं आये थे, फिर भी उससे पहले ही ज्वर जाता रहा । जब ज्वर टूट गया दो दिन बराबर अच्छी दशा बनी रही, तो फिर उक्त औषध बन्द कर दी । अब यकृत, सीहा को ठीक करने वाली तथा रक्तोत्पादक औषध देनी शुरू की एक मास के भीतर २ रोगी ने पूर्ण स्वस्थता लाभ की ।

**एक और रोगी**—एक लड़की जिसकी अवस्था १०—११ साल की थी । मन्थर ज्वर से प्रपीड़ित हुई । मौसम विषम ज्वर का था चिकित्सक की राय में विषम ज्वर था, इसलिए वह विषम ज्वर की चिकित्सा करता रहा । सप्ताह बीता, दो सप्ताह बीते ज्वर न दूर हुआ । ज्वर स्थिर रूप से बना रहता था । नया चिकित्सक आया, उसने भी सन्तत ज्वर समझा, दो सप्ताह इसकी चिकित्सा हुई किन्तु, ज्वर न टूटा । इसकी चिकित्सा में मन्थर के दाने कुछ २ देखे गए । घर वालों ने वैद्य का ध्यान उन दानों की तरफ कराया, पर वैद्य जी ने कहा यह कुछ नहीं, यह इस ज्वर में भी हो जाते हैं । एक मास व्यतीत हुआ था कि लड़की को प्रतिश्याय होगया, उस के साथ २ खांसी उत्पन्न हो गई और कुछ दिन के पश्चात कण्ठ ग्रन्थियां ( लसिका ग्रन्थिया ) बढ गई । डाक्टर को दिखलाया गया । डाक्टर ने निश्चित किया कि इस पर क्षय जन्तुओं का आक्रमण हो चुका है दो सप्ताह के पश्चात् रात्रि में ज्वर का वेग बढ़ने लगा । एक व्याधि तो प्रथम ही प्रबल थी, दूसरी उस से भी प्रबल आगई । दो ज्वर चढने लगे, चिकित्सा करते २ छः मास व्यतीत होगए, रोगी का रोग बढ़ता ही गया । रोगी गरीब घर का था, डाक्टरों की जेबें गरम कर २ के रह चुका था । अन्त में मेरे द्वारा संस्थापित प्रेम सेवक सभा

के धर्मार्थ औषधालय में लाया गया, सभा के काम करने वाले वैद्य ने परामर्श के लिए मेरे पास भेज दिया। यद्यपि, कण्ठ-मालाएं बहुत बढ़ चुकी थीं, और कण्ठ माला के ही सारे लक्षण स्पष्ट हो रहे थे, तथापि इन लक्षणों में मुझे मन्थर के लक्षणों का भी—रोगी के चेहरे से—स्पष्ट भान हो रहा था। घर वालों से पूछा क्या इस को प्रथम मन्थर ज्वर तो नहीं हुआ था? उत्तर मिला पहले बुखार तो मौसमी हुआ था, किन्तु बीच में एक दो दिन कुछ दाने उन्हीं दिनों देखे गये थे, फिर पता नहीं लगा। मुझे निश्चित होगया कि मन्थर ज्वर ही था, जो बिगड गया है। किन्तु, भूल से और ज्वर समझा गया। खैर! मैंने मन्थर ज्वर की चिकित्सा आरम्भ कर दी, भोजन बन्द कर दिया, रोगी को फलाहारी बनाया। दोपहर नं० १ व न० २ दिया, साथ में वही सरल-रेचन-वटी देने लगा। डेढ़ सप्ताह में जाकर मन्थर के दाने प्रादुर्भूत हुए और एक सप्ताह तक बराबर निकलते रहे। इसके पश्चात् मन्थरी मल निकला और मन्थर ज्वर जाता रहा। अब दूसरे ज्वर का सही २ रूप प्रकट हुआ। वह ज्वर कण्ठमालिक था, पुनः इसकी चिकित्सा आरम्भ हुई। तीन मास चिकित्सा करने पर रोगी बिलकुल स्वस्थ हो गया, किन्तु कुपथ्य से १॥ वर्ष बाद फिर कण्ठ-माला हो गई।

---

# इस परिच्छेद का सारांश

उपरोक्त रोगियों का वर्णन देकर यह बतलाने का प्रयत्न किया गया गया है, कि एक रोग हो रहा हो तो दूसरा रोग भी उसी तरह हो सकता है, जैसा स्वस्थ मनुष्य को। किन्तु उसका जानना चिकित्सा की बुद्धिमत्ता पर है। दूसरे एक से ही लक्षणों वाली कई व्याधियां होती हैं यथा—सन्तत ज्वर और

मन्थर ज्वर इन दोनों में प्रथम सप्ताह की अवस्थाऐं प्रायः एक सी ही चलती हैं। सन्तत
ज्वर में जिस तरह शिरः-शूल, तृषा, व्याकुलता, सर्वांगग्रहण आदि भी देखे जाते हैं
तथा कइयों को विष्टम्भता हो जाती है, करीब २ यही लक्षण मन्थर ज्वर में भी
पाये जाते हैं । यहां तो आरम्भावस्था में ही यह भ्रम होता है पर आगे चलकर
जब ज्वर ठहर जाता है और उदर ग्रन्थिया विकृत होकर अच्छा पाचक रस
नहीं बनाती, कि जिससे रक्त अच्छा बने । मन्थरी विष का प्रभाव शरीर पर बढ़
जाता है, तो इसका परिणाम यह होता है कि शरीर में रक्त की मात्रा घट जाती है,
मास भाग शुष्क होने लगता है, त्वचा पर झुर्रियां दिखाई देने लगती हैं, जिससे
शोष या क्षय के लक्षणों का भान होता है । क्योंकि शोष में भी मन्द ज्वर और
शरीर का शोषण प्रधान होता है । इसीलिये अनेक रोगी-चिकित्सक की इस
मूल से ही यमलोक चले जाते हैं। हमारे पास हजारों शोष व क्षय के रोगी आये
हैं, उनमें प्रतिशत ५० रोगी तो मन्थर के होते हैं । जिनमें स्पष्ट लक्षण तो शोष
के दिखाई देते हैं, पर होता है वह मन्थरी ज्वर से हुआ २ शोष । जो शोष
क्षय जन्म कीटाणुओं से हो वह क्षयज शोष और जो मन्थर ज्वर के कारण हो उ
को मन्थरी शोष कहना चाहिये । बालकों में प्रायः जो शोष रोग देखा जाता
वह प्रतिशत ७५, ८० रोगियों में मन्थरी शोष से होता है । इसीलिये
सावधानी से इसकी परीक्षा होनी चाहिये । यदि ज्वरारम्भ के पश्चात् कभी भी
मन्थर के दाने देखे जांय, तो अवश्य ही यह मन्थर है ऐसा निश्चय करना
चाहिये । इसमें कोई संशय नहीं कि ऐसे अनेक रोगी भी देखे गए हैं, जिन
में मन्थर के साथ क्षय रोग भी था और मन्थर ज्वर के दूर हो जाने पर उसका
रूप स्पष्ट हो गया है। परन्तु ऐसा हो, तो भी अच्छी तरह परीक्षा करनी
चाहिये । कई एक विज्ञ डाक्टरों की राय है कि मन्थर के कीटाणु क्षय के कीटाणु
में बदल जाते हैं तब क्षय हो जाता है । मैं इस सिद्धान्त पर विश्वास नहीं करता।

मन्थर के कीटाणु क्षय के कीटाणुओं में कभी नहीं बदलते। मन्थर कीटाणुओं का एक विष इससे मिलता जुलता होता है। इसीलिये मन्थर ज्वर के विकृत रूप धारण करने पर शरीर में मन्थरी विष का भी क्षयी विष जैसा ही प्रभाव होता है, इसलिये इस में भी क्षय-शोषीवत् लक्षण देखे जाते हैं। जब किसी एक रोगी पर कई रोगों का एक साथ प्रभाव हो रहा हो उस समय भिन्न २ रोगों में से किसी एक ऐसे रोग को चुन लेना चाहिये, जो बलवान् हो और शरीर को औरों की अपेक्षा अधिक हानि पहुचाने वाला हो। हम ने तीसरे रोगी के वर्णन में यह दिखलाया है कि उसको मन्थर ज्वर के साथ विषम ज्वर भी था। विषम ज्वर,मन्थर ज्वर से प्रबल होता है और यह बहुत ही शरीर को निर्बल कर देता है इसीलिये मन्थर ज्वरको छोड़कर सर्व प्रथम विषमज्वर की चिकित्सा की,जब विषमज्वर जाता रहा, तब मन्थरकी चिकित्सा आरम्भ की। इसीतरह चौथा रोगी जिसको मन्थर ज्वर के साथ कण्ठ माला हो गई थी, प्रथम मन्थर ज्वर को दूर करके पुनः कण्ठ माला की चिकित्सा की। कई वैद्य एक साथ ही कई २ व्याधियों की चिकित्सा आरम्भ कर देते हैं और एक रोग की औषध में दूसरे रोग की भी औषध मिला देते हैं। यह प्रथा प्रायः एलोपैथी में देखी जाती है, जिसका अनुकरण हमारे कई वैद्य करने लगे हैं। मेरी सम्मति में ऐसे अनर्गल मार्ग पर वैद्यों को कभी नहीं जाना चाहिये। कभी भी एक साथ दो भिन्न २ प्रधान रोगों की औषध नहीं की जा सकती। क्योंकि प्रधान २ जान्तविक व्याधियों के निवारणार्थ जो प्रतिविष शरीर में तय्यार होता है, वह दोनों व्याधियों के लिये एक साथ नहीं बन सकता। जिस तरह कोई व्यक्ति एक साथ एक हाथ से दो काम नहीं कर सकता, एक काम को करके पुन. दूसरा काम कर सकता है। एक विचार धारा में दो बातों को एक साथ नहीं विचारा जा सकता। ठीक इसी तरह शरीर के प्रतिविषोत्पादक सजीव प्राणि भी एक साथ दो प्रकार के प्रतिविष नहीं बना सकते।

इसलिये एक वास्तविक व्याधि जो प्रबल हो उसकी चिकित्सा करके पुनः दूसरे की चिकित्सा करने पर ही सफलता मिल सकती है, इस तरह नहीं। इसके विपरीत जो व्यक्ति दोनों की एक ही साथ मिलाकर चिकित्सा करते हैं उनके चिकित्सा क्रम की वही दशा होती है जो एक साथ दो नावों पर पैर रखने वाले की।

हां यदि एक प्रधान रोग में कोई उपद्रव उठ खड़ा हो, जैसे ज्वर में कास तृषा, मूर्छा, प्रलाप आदि तो इनको दबाने के लिये प्रधानौषध के साथ २ कास-श्वास नाशक औषध या संज्ञाकर औषध प्रयोग में लाई जा सकती है। ऐसा करना सिद्धान्तानुकूल है, क्योंकि यह उपद्रव इस समय कोई प्रधान रोग का कारण नहीं, प्रत्युत इसी एक प्रधान रोग के लक्षण मात्र हैं जो भिन्न २ शरीर रोगों की विकृति से उत्पन्न हो गये हैं और कुछ नहीं। इस लिये यह दबाये जा सकते हैं। और औषध से दब भी जाते हैं। किन्तु दूसरे प्रधान रोग इस तरह नहीं दबते, प्रत्युत विगड़ कर प्राणान्त कर देते हैं।

# चौथा परिच्छेद ।

## चिकित्सा-क्रम ।

रोगी को देखने पर जब तक व्याधि का पूर्ण परिज्ञान न हो चिकित्सा क्रम निर्द्धारित करना कठिन होता है। इसलिये सर्व प्रथम वैद्य को चाहिये कि—जितने भी व्याधि के परिचार्थ साधन मिलें, सब का उपयोग करें। कोई भी ऐसा साधन चाहे वह विदेशी हो या स्वदेशी—जिससे व्याधि के समझने में पूर्ण सहायता मिलती हो —उपयोग में लावे। और उसके उपयोग का क्रम न मालूम हो तो निःसकोच होकर किसी अनुभवी वैद्य, डाक्टर के पास जा कर सीखे।

वैद्य को चिकित्सा-क्रम आरम्भ करने से पहिले निम्न लिखित बातें अवश्य जाननी चाहियें।

(१) व्याधि विनिश्चय। (२) प्रकृति परिज्ञान और (३) परिस्थिति। यही तीन बातें ऐसी हैं जिन पर चिकित्सा-क्रम या उपचार का अवलम्ब है। जबतक इन तीनों का आश्रय न लिया जाय चिकित्सा सफलीभूत होगी। हम सक्षेप में उक्त बातों पर विचार करें।

**व्याधि विनिश्चय**—पिछले परिच्छेदों से यह तो पाठकों को ज्ञात हो चुका होगा कि प्रत्येक व्याधि या व्यथा के उत्पादक दो प्रधान कारण हैं। एक जैव दूसरा दोष या उदरस्थ-मल। दोनों कारणों में से किसी भी कारण से कोई कष्ट या व्याधि उत्पन्न हो जाय तो उसके शरीर में दो स्थान देखे जाते हैं। एक शरीरान्तर्गत, दूसरा बाहर। यद्यपि शरीर का कोई भी भाग शरीर से भिन्न नहीं, न कोई व्याधि शरीर से भिन्न देखी जाती है, तथापि जिस रोग रूप

को हम प्रकट देख सकें, जिस को समझने के लिये अनुमान का आश्रय न लेना पड़े, ऐसी व्याधि को दृष्टिगत होने वाली व्याधि कहते हैं। जैसे त्वचा का दाह, गले की शोथ, कुष्ट, फोड़ा, विद्रधि आदि परन्तु, जिस व्याधि का स्वरूप दृष्टि के सन्मुख न हो, यान्त्रिक साधनों से भी उसके वास्तविक रूप का परिज्ञान कठिन हो। जैसे--फुफ्फुस-रोग, हृद-रोग, मस्तिष्क-रोग और आन्तरिक प्रदाह व आक्षेप जन्य व्याधिया, जिन के प्रायः कार्य (लक्षण) को देख कर कारण (व्याधि) को अनुमान से जाना जाय, ऐसी व्याधि को अभ्यान्तरिक व्याधि कहते हैं।

**व्याधि के दो रूप**—कोई भी व्यथा या व्याधि शरीर के भीतर हो या बाहर उसके प्रधान और गौण दो ही रूप होते हैं। जैसे—मन्थर ज्वर में आन्तरिक-कला का प्रदाह, प्रधान रूप है, और कास आदि उसके उप-प्रधान रूप=उपद्रव=हैं। जिस तरह कारण के साथ कार्य का सम्बन्ध होता है, इसी तरह व्याधि के साथ उपद्रव का भी सम्बन्ध है। पर बहुत से चिकित्सकों की राय है कि कोई भी उपद्रव हो, प्रायः अपने प्रधान कारण के साथ ही रहता है, और कारण के साथ ही जाता रहता है। मन्थर-ज्वर में अन्त्र-प्रदाह व्याधि का मूल कारण है, जिसकी स्थिति से ज्वर, कास, तन्द्रा, तृषा, प्रलाप आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। यह सब तब तक बने रहते हैं जब तक मन्थर ज्वर बना रहता है। पर यह सही नहीं। हमने ऐसे भी रोगी देखे हैं जिन को अन्त्र-प्रदाह हुआ है, और गले में मन्थर के दाने भी क्रम से समय पर निकले हैं, परन्तु ज्वर नहीं हुआ। कइयों को सिवाय साधारण ज्वर होने के और कोई उपद्रव नहीं देखे गये। इसलिये यह कहना कि प्रत्येक उपद्रव व्याधि के साथ स्थाई या निश्चित हैं; कोई आवश्यक नहीं। इस में कोई संशय नहीं कि अनेक व्याधियां अपना कोई न कोई

निश्चित रूप रखती हैं, जिसको देख कर उन के कारणों का निश्चय हो जाता है। जैसे मन्थर ज्वर में ग्रीवा पर निकलने वाले दाने या उदर पर निकलने वाले हिरमिजी वर्ण के धब्बे, प्लेग में ग्रन्थिक प्रदाह, विशूचिका में चावलों का मण्ड रूप रेचन, आदि। यह सब व्याधि के प्रधान उपद्रव या लक्षण माने जाते हैं। परन्तु अनेक उपद्रव ऐसे होते हैं जो किसी व्याधि में उत्पन्न तो हो जाते हैं, पर व्याधि के दूर हो जाने पर दूर नहीं होते। जैसे कास—ज्वर, कास, श्वास, यकृत शोथ, प्लीहा-शोथ आदि। इसीसे अनेक व्याधियों में होने वाले इन ज्वर, कास आदिकों को देख कर व्याधि का निश्चय करना कठिन हो जाता है। आप देखते हैं कि ज्वर, कास, पीड़ा आदि ऐसे उपद्रव हैं जो भिन्न २ प्रधान व्याधियों में देखे जाते हैं। फुफ्फुस-प्रदाह में भी ज्वर होता है, कास होता है, क्षय रोग में भी ज्वर व कास होता है, निश्रान्तकी में भी ज्वर, कास होता है, मन्थर में भी ज्वर कास देखा जाता है। अब केवल हम ज्वर और कास को देख कर—यह निश्चय करना चाहें कि यह कौन सा ज्वर है—तो बड़ी कठिन बात है। इसालिये प्रत्येक व्याधि के प्रधान लक्षणों को देखा जाता है और उस को देख कर ही व्याधि का निश्चय किया जाता है, इस तरह नहीं। हमने मन्थर-ज्वर को—उस के प्रधान-लक्षण उपलक्षण दे कर—जानने के लिये पिछला परिच्छेद लिखा है, आशा है पाठक उस से बहुत कुछ इस बात को समझ गये होंगे, और व्याधि को प्रधान उपप्रधान लक्षणों से जान गये होंगे। क्योंकि जबतक रोग विनिश्चिय न हो चिकित्सा क्रम कठिन होता है। रोग विनिश्चय के पश्चात् किन २ बातों को जानना चाहिये। इस वर्णन हम आगे करेंगे।

**शक्ति-परिज्ञान**—हम सब जीवन रक्षा लिये जो कुछ खाते हैं, वह खाद्य सामग्री हमारे सब के शरीर में—जैसी की तैसी तो खप नहीं जाती। प्रत्युत

प्रत्येक खाद्य सामग्री को जब हम उदर दरी में पहुंचाते हैं तो उसका विश्लेषण होने लगता है, और उसके पूर्व रूप (कण) टूट २ कर कई नये रसायनिक रूप बनने लग जाते हैं। जो खाद्य शरीर के योग्य बन जाता है उसकी शरीर में खपत होती है। इससे हमारे शरीर का टूटा फूटा, क्षीण हुआ एक २ कण बनता, बिगड़ता रहता है। कई पाठक कहेंगे कि बनना तो हो सकता है, बिगड़ना किस तरह? प्रत्येक व्यक्ति को स्मरण रखना चाहिये कि संसार गुण-दोषमय है। जब वह स्वयम् गुण, दोष मय है तो संसार की कोई भी वस्तु दोष, गुण से रहित नहीं हो सकती। जो कुछ हम खाते हैं वह भी किसी न किसी प्रकार के गुण, दोष से अवश्य पूर्ण है। औरों की दृष्टि से हम नहीं जानते, पर हमारे लिये जो वस्तु अनुकूल होती है उसे हम गुण युक्त कहते हैं, जो प्रतिकूल पड़ती है, वही हमारे लिये दोषयुक्त है। मानव संसार में गुण, दोष का विवेचन इसी दृष्टि से हो रहा है। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। सृष्टि में दो ही मुख्य वस्तुएं हैं; एक पदार्थ दूसरी शक्ति। जिस वस्तु को हम अपनी दृष्टिक शक्ति से देख सकते हैं, वह पदार्थ है। संसार में जो कुछ दीखता है, सब पदार्थ मय है। और इस पदार्थ के भीतर जिस के बल से गति शीलता=हरकत=उत्पन्न हो रही है, जिस को-हम प्रत्यक्ष नहीं—उस के कार्य से देखते हैं—उस का नाम है शक्ति। भौतिक विज्ञान में शक्ति को चाहे जिस रूप में माना व समझा जाय, पर शरीर-विज्ञान में पदार्थों की शक्ति, गुण, स्वभाव और प्रभाव के रूप में देखी तथा मानी जाती है। गुण स्वभाव और प्रभाव यह पदार्थों की शक्ति के ही तीन रूप हैं, और कुछ नहीं। किस २ पदार्थ में क्या २ शक्ति (गुण, स्वभाव, प्रभाव) है—इस को हम आगे बतलावेंगे। किसी भी पदार्थ का जब तक हम उपयोग न करें उसकी शक्ति को नहीं जान सकते। भौतिक

गुणों की हम चहें यन्त्रों से जांच करलें, पर शरीर के लिये उसके उपयोगी गुणों को अपने ऊपर प्रयोग करके ही जान सकते हैं। जब हम किसी पदार्थ का वाह्य या आन्तरिक प्रयोग करते हैं तो उसके छिपे हुए गुण स्वभाव, प्रभाव हम पर प्रकट हो जाते हैं। यह पदार्थों के गुण, स्वभाव, प्रभाव परस्पर क्या अन्तर रखते हैं, और किन २ रूपों में प्रकट होते हैं हम इस पर कुछ विचार करेंगे।

**द्रव्यों के गुण**—पदार्थों में विद्यमान परिपालनीया-शक्ति का नाम गुण है अनुकूल परिस्थिति रहने पर हम इस को गुण कहते हैं। प्रतिकूल परिस्थिति में हम इस का दुर्गुण नाम देते हैं। यह गुण दो प्रकार का है, एक स्वतः दूसरा परतः। जिन द्रव्यों के उपयोग से शरीर को उस द्रव्य के द्वारा स्वतः परिपालनीय सामग्री मिलती रहे, जैसे—अन्न, फल, कन्द, शाक आदि से, तो इस को हम स्वतः परिपालनीय गुण कहते हैं। परन्तु जिस द्रव्य में स्वतः परिपालन शक्ति तो न हो, पर अपनी शक्ति से निर्बल शारीरों में परिपालनीय पदार्थों को परिपाचन करके शरीर को समर्थ युक्त कर दें जैसे—बल वर्द्धक औषधिया, तो उसको हम परतः परिपालनीय गुण कहते हैं। परन्तु जब उक्त दोनों ही प्रकार के पदार्थ शरीर पर विपरीत गुण उत्पन्न करें तो उसका नाम दुर्गुण दिया जाता है।

**द्रव्यों के स्वभाव**—द्रव्यों की प्रकृति-परिवतनीया-शक्ति का नाम स्वभाव है। अर्थात् जिस द्रव्य के स्पर्श से, प्रयोग से एकाएक शरीर की स्वभाविक अवस्था—में अन्तर आजाय, और शरीर की क्रियाएं बिगड़ने या बनने लग जाँय, जिस की शक्ति से शरीर में सून्यता, दाह, शोथ, शोप नामक दशायें उत्पन्न हो जांय या उत्पन्न हुई २ जाती रहें। जैसे—संखिया के अधिक खाने से, उदर में दाह शोथ होकर शरीर में नाशकारी चिन्ह उत्पन्न हो जाते हैं अथवा लघु मात्रा खाने से उक्त सून्य, दाह, शोथ, शोप नामक दशायें जाती रहती हैं, ऐसी परिवर्तनकारी

-शक्ति का नाम पदार्थों का स्वभाव या प्रकृति है। हमको स्वभाव के लिये प्रकृति शब्द का उपयोग उचित जंचा है। इसीलिये हम स्वभाव के स्थान पर प्रकृति शब्द प्रयोग करेंगे। शरीर में तथा पदार्थों में चार प्रकार की प्रकृति देखी जाती है। शीत, उष्ण, तर, रूक्ष। पदार्थों की इन चारों प्रकार की प्रकृति से अनुकूलावस्था में लाभ और विपरीतावस्था में हानि होती है। जिस समय शरीर में शीत बढ़ रही हों तो उस समय शरीर की क्रियाएं शिथिल होने लगती हैं, शरीर में जड़ता देखी जाती है। यदि उस समय हम उष्ण प्रकृति के पदार्थ शरीर में न पहुंचावें जैसे संखिया आदि शीत रोधक और उत्ताप वर्द्धक, तो जड़ता या सून्यता और अधिक बढ़ जाती है। शीत प्रधान द्रव्य के परिणाम स्वरूप शरीर की गति-शक्ति कार्य्य करने से रह जाती है। पर जब शीत विपरीतकारी वस्तुओं का उपयोग होता है तो शरीर ठीक हो जाता है, इससे भिन्न हम कभी २ अनेक रूपों में उक्त शक्ति इतनी बलवान् देखते हैं कि उपयोग करते २ उसका स्वभाव प्रकट हो जाता है। जैसे-संखिया खाते ही खाते उसकी उष्णता व रूक्षता का इसके अन्दर की शक्ति से हमारे उदर में प्रदहन होकर विनाशकारी चिन्ह दिखाई देने लग जाते हैं। पदार्थों के उक्त स्वभावों को हम प्रायः अपने भीतर शीत, उष्ण, रूक्ष, तर आदि रूप को बढ़ता देखकर ही उस प्रकृति को जान सकते हैं, इस तरह नहीं।

**प्रकृति की न्यूनाधिकता**—जिस तरह भिन्न २ द्रव्यों में उन की रसायनिक रचना रूप के अनुसार शीत, उष्णता, रूक्ष, तर प्रकृति बनी होती है, इसी तरह हमारे शरीर की भी खानपान परिस्थि के अनुसार प्रकृति बनी हुई है। हमारे शरीर की इस स्थिर प्रकृति में जब तक शरीर स्वस्थ रहे—कोई अन्तर नहीं आता। परन्तु शरीर में जब कोई विकार या दोष उत्पन्न होकर शरीर को निर्बल कर देता है तो उस अवस्था में निर्बलता के कारण शरीर की

साधारण प्रकृति में भी अन्तर आजाता है। जितना शरीर निर्बल होगा, उतनी ही शरीर की प्रकृति भी निर्बल हो जायगी। इससे भिन्न व्याधियों की विद्यमानता भी स्वभाविक प्रकृति में अन्तर डाल देती हैं। हम इसके कुछ उदाहरण देंगे।

एक बलवान् व्यक्ति जिसकी प्रकृति ऐसी अच्छी है कि कोई भी शीत, उष्ण, रूक्ष, तर प्रकृति वाले परिपालनीय द्रव्यों का सेवन करे उसको न उनके स्वभाव का कोई भान होता है न प्रभाव का। उससे पूछो तो वह कहता है सर्दी में भी मुझे दही चावल शर्बत्त तक अनुकूल बैठते हैं, गर्मियों के दिनों में भी विपरीत प्रकृति के पदार्थ कोई हानि नहीं पहुचाते। पर उसी व्यक्ति को अकस्मात ज्वर हो जाता है तो उसी दिन उसकी प्रकृति में अन्तर आ जाता है। दोषों के प्रभाव से उसकी प्रकृति एक दम बदल जाती है। परन्तु, जब दोषों का प्रभाव शरीर पर पढकर शरीर में क्रिया हीनता, दाह शोथ व शोष के रूप को उत्पन्न कर देता है, तो उससे शरीर में प्रकृति का प्रभाव स्थिर रूप में बदल जाता है। और समय पाकर शरीर में क्रिया हीनता से शीत, दाह से उत्ताप या उष्णता, शोथ से तरी (श्लेष्मरूप) शोष से रुक्षता (शोषण) बढ़ी हुई दिखाई देने लगती है।

जो व्यक्ति आज से कुछ दिन पूर्व सब कुछ खा जाता था, आज यह दशा है कि साधारण खानपान के पदार्थ भी नहीं पचते। वह बीमार होते ही न दही खा सकता है, न खटाई, न पौष्टक पदार्थ, प्रत्युत सब कुछ छुट जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण है शरीर की प्रकृति का बदल जाना। जब शरीर की प्रकृति बदल जाती है तो प्रायः नित्य की खाद्य वस्तुएं भी अनुकूल नहीं बैठतीं। ऐसे समय रोगी को कोई ऐसी वस्तु दे दी जाय जो दोष को तो शमन न करै, प्रत्युत विपरीत पड़ती हो। जैसे—ज्वर में दही। तो इसका परिणाम यह होगा कि दोषों के कोप से शीत की प्रधानता होने पर दोषों का

चल और बढ़ जायगा। दोषों के रसायनिक रूपों के बढ़ने में सहायता मिल जायगी। इसी प्रकार गरिष्ट भोजन, तेल खटाई आदि के द्रव्य भी उक्त विकृति में सहायक हो जाते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि उष्णता, रूक्षता आदि भी अधिक बढ़ जाती हैं। इसीसे रोग में उष्णता, रूक्षता बढ़ते ही तृषा, व्याकुलता, भ्रम, मूर्छा आदि भयंकर उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे रोगी नाशकारी अवस्था की ओर अधिक बढ़ने लग जाता है। इसीलिये ऐसे समय में वैद्य जब कि शरीर की स्वभाविक प्रकृति विकृत रूप में हो, जबतक यह अपने प्रकृत रूप में न आ जाय, खाने पीने की ऐसी व्यवस्था करते हैं, जो शरीर की विकृति को घटाने वाले, शरीर की साधारण प्रकृति को पूर्व रूप में लाने वाले, मृदु–हलकी–प्रकृति के पदार्थ सेवन के लिये देते हैं। जैसे–दुग्ध, फल, यूष आदि। यह तो साधारण व्याधि द्वारा प्रकृति परिवर्त्तन का एक दृष्टांत है। साधारण व्याधियों से जब प्रकृति में अन्तर आ जाता है तो यह दशा उसी समय तक देखी जाती है जब तक उसका प्रभाव बना रहता है, परन्तु विशेष व्याधिया में यह बात नहीं होती। कई ऐसी प्रकृति की जैव जन्य व्याधियां होती हैं जिनके प्रभाव से शरीर की प्रकृति अधिक काल के लिये बदल जाती है। जैसे उपदंश, कुष्ट, कण्ठ माला आदि। इनमें उष्ण, रुक्ष प्रकृतियों का *प्रायः स्थिर* रूप देखा जाता है। प्रत्येक पदार्थ या प्राणी अपने २ रूपानुसार प्रकृति रखते हैं, इसी तरह प्रत्येक प्रकार के जैव भी अपनी २ प्रकृति रखते हैं। इसीलिये जब वह शरीर में पहुंच कर व्याधि का रूप प्रकट करते हैं तो उनकी प्रकृति का प्रभाव भी हमारे शरीर पर प्रकट होता है, जिसके प्रभाव से हमारे शरीर की प्रकृति उसी तरह बदल जाती है, जिस तरह खाद्य वस्तुओं के प्रभाव से। इससे भिन्न जो व्यक्ति अधिक काल से बीमारियों के शिकार होते चले आते हैं। बीमारियों के कारण शरीर जिनका जरजर हो चुका है, ऐसे व्यक्तियों की अपनी प्रकृति

निर्बल होने के कारण भी खान, पान व परस्थिति के तुल्य नहीं रहती, गिर जाती है। इसीसे उन्हें फिर प्रायः साधारण खान पान भी अनुकूल नहीं बैठते, ऐसे समय कोमल या साधारण शीतोष्ण प्रकृति के पदार्थ भी असह्य हो जाते हैं। जरासी ठण्डी वस्तु खाते ही शरीर में दर्द हो जाता है, पठ्ठे अकड़ जाते हैं, मूत्र अधिक आने लगता है, नाक से जल श्राव होने लगता है। साधारण सी उष्ण वस्तु खाते ही तबीयत घबराने लगती है, सिर में चक्कर आने लगते हैं, मुख, जिह्वा सूखने लग जाती है इत्यादि। और यदि यह कहीं अधिक बढ़ जांय तो इनकी वृद्धि से जीवन ही संकट में पड़ जाता है। इसीलिये पदार्थों की प्रकृति व मनुष्य की प्रकृति को रोगावस्था में अवश्य ही जानना चाहिये।

**प्रकृति का शरीर की रचना से सम्बन्ध**—मनुष्य की जैसी बनावट होती है प्रायः उसीके अनुसार शरीर की भी प्रकृति बनती है। जिनके शरीर की बनावट बदलती है, उनकी प्रकृति भी बदल जाती है, वास्तव में शरीर की रचना से शरीर की प्रकृति का घनिष्ट सम्बन्ध है।

जो व्यक्ति जितने अधिक मोटे होते हैं उनकी तर व शीत प्रकृति होती है, जो व्यक्ति जितने पतले होते हैं उनकी उतनी ही उष्ण, रुक्ष प्रकृति होती है।

वास्तव में उस तरह तो उष्ण और शीत दो ही प्रधान प्रकृतिया हैं। परन्तु उष्ण के साथ रुक्षता, शीत के साथ तर प्रकृति सदा संलग्नित रहती हैं। जब उष्णता बढ़ती है तो उसके साथ खुश्की भी उत्पन्न हो जाती है, जब शीत बढता है उसके साथ तरी प्रधान हो जाती है। जिस तरह उष्णता के साथ रुक्षता लगी हुई है, इसी तरह शीतता के साथ आद्रता संलाग्नित है। हम इनको उष्ण की रुक्ष व शीत की तर सहचरी प्रकृति भी कह सकते हैं।

जिस समय उक्त प्रकृतिया व्याधि की अवस्था में प्रकट होती है तो इनके स्वतन्त्र लक्षण व रूप स्पष्ट देखे जाते हैं। हम इनके भिन्न २ रूप देकर विचार करेंगे।

**उष्णता के चिन्ह और ज्वर**—उष्णता दो प्रकार की है एक स्वाभाविक दूसरे अस्वाभाविक। यह तो बतलाने की आवश्यकता नहीं कि शरीर का उत्ताप एक निश्चित परिमाण में सदा बना रहता है, जिसको प्रत्येक व्यक्ति उत्ताप मापक से देख सकता है। उत्ताप मापक शरीर के स्थिर उत्ताप को सही बतलाता है, इस में कोई संशय नहीं। परन्तु जिस उत्ताप का परिमाण ताप मापक में ९८॥ निश्चित दिया हुआ हो, वह उत्ताप हमारे खान, पान, गति व ऋतु आदि के कारण—साधारण अन्तर से—जो हमको अधिक दुःखदायी नहीं—घटता बढ़ता रहता है। नैतिक खान, पान व ऋतु पर्वत्तनादि द्वारा जो हमारे शरीर के उत्ताप में अन्तर पड़ता है वह जन्म काल से—सहन करते चले आने पर—इतना अनुकूल हो जाता है कि उसके कष्ट का अनुभव करते हुए भी हम उसे बहुत साधारण समझते हैं, इसका नाम स्वाभाविक उत्ताप है। पर जिस समय हम विशेष प्रकृति वाले पदार्थों का अधिक सेवन करते हैं जैसे—छुहारे, अण्डसित आदि, तो इन सब की उष्ण, रुक्ष प्रकृति हमारे शरीर की स्थिर प्रकृति से बलवान् होने के कारण इनका प्रभाव शरीर पर पड़ने लगता है, इससे चित्त घबरा जाता है, शरीर में उत्ताप वृद्धि के चिन्ह दिखाई देने लग जाते हैं। यथा—नेत्रों का विस्फूरित होना, मुह का सूखना, तृषा लगना, उत्ताप की मात्रा ९९ ९९॥ हो जाना, हृदय की गति बढ़ जाना, प्रश्वास खिंच कर आना, श्वास से गले में शुष्कता प्रतीत होना आदि। यह व्यवस्था उस समय तक असाधारण रहती है जबतक उक्त पदार्थ सात्म्य रूप को प्राप्त नहीं हो जाते। जहा वह सात्म्य हुए, शरीर अपनी पूर्व की प्रकृति में आ जाता है। इसीका नाम विशेष या अस्वाभाविक उत्ताप है। अस्वाभाविक उत्ताप केवल खानपान के कारण ही नहीं बढ़ता, प्रत्युत ऋतु, जैव जन्य व्याधियां व शरीरस्थ दोष आदि भी इसकी वृद्धि में कारण होते हैं। यह उत्ताप जिस २ कारण से उत्पन्न हुआ हो उसी के

ाम से बोला जाता है। यथा—ऋतु का उत्ताप, जैव जन्य व्याधियों का उत्ताप । दोष जन्य उत्ताप, मुक्त पदार्थों का उत्ताप आदि।

**ज्वर और उत्ताप में अन्तर**—उस तरह ताप माप की दृष्टि से देखा ाय तो मात्रा मे अधिक उत्ताप का वढना ही ज्वर माना जाता है, पर वास्तविक ूप में देखा जाय तो ज्वर और उत्ताप में अन्तर होता है। तथा दोनों का प्रभाव भी भेन्न २ देखा जाता है। हम इसको उदाहरण देकर समझायेंगे। एक मनुष्य ने र्मी के दिनों में मूगफली अधिक खाली, इसके कारण उसके शरीर में उत्ताप ी मात्रा इतनी वढ गई कि वह घवराने लगा। तृषा और व्याकुलता से वेचैन ोने लगा, हृदय व रक्त की गति भी बढ़ गई; मुह, होठ, नासामार्ग सब खुश्क ो गये, यह अवस्था एक दो दिन तक रही। जब उक्त खाद्य वस्तु का प्रभाव ारीर से हटा, उसी समय शरीर अपनी असली प्रकृति में आ गया। इसी तरह कभी २ ग्रीष्म ऋतु के कारण भी एसी अवस्था देखी जाती है। कइयों को गर्मी के प्रभाव से शरीर की मात्रा १०४—१०५ तक वढ़ी जाती हैं, कईयों के हृदय की गति इतनी वढ़ जाती है कि चलते २ उसकी गति विगड़ कर एक दम वन्द हो जाती है, जिससे मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। इस तरह के खाद्य पदार्थों द्वारा उद्भूत उत्ताप या वाह्य की प्रकृति के उत्ताप का प्रभाव जब शरीर पर पड़ता है, तो जैसा कि हमने पीछे वतलाया है अधिक काल तक स्थिर नहीं रहता। इसका प्रभाव प्रत्येक अवयव के लिये अधिक नाशक भी नहीं होता; न स्थिर रूप से शरीर की प्रकृति को ही वदलता है। प्रत्युत जहा ऋतु व खाद्य पदार्थ का प्रभाव हटा तहा प्रकृति अपने असली अवस्था में आ जाती है। वास्तव में इस प्रकार के उत्ताप से शरीरावयवों में न तो उत्ताप स्थिर होता है न कोई विकार। पर जब शरीरस्थ दोषों के कारण या जैव जन्य विकार के कारण उत्ताप वढ़ता है तो आरम्भ से ही इसका उक्त उत्ताप से भिन्न रूप होता

है। इसकी तृषा, व्याकुलता तथा और उत्ताप जन्य प्रत्येक रूप में अन्तर देखा जाता है। व्याधि जन्य उत्ताप का प्रभाव स्थिर रूप से एक निश्चित समय तक रहता है, तथा इससे जितनी अधिक हानि शरीरावयवों को होती है इतनी और किसी भी कारण से उत्पन्न उत्ताप से नहीं होती, इसीलिये इसका नाम सन्ताप या ज्वर है और उसका नाम उत्ताप।

**शीत के चिन्ह**—उत्ताप की विपरीतावस्था का नाम शीत है, अर्थात् उत्ताप की न्यूनता का नाम शीतता है। शरीर में जब शीतलता बढ़ती है तो इस में ठीक उत्तापजनित लक्षणों के विपरीत लक्षण देखे जाते हैं। शरीर में शीत की प्रधानता होती है तो अंग २ अकड़ने लग जाते हैं, क्रिया-शक्ति का ह्रास होने लगता है, सून्यता व जड़ता बढती जाती है, हृदय की गति मन्द होजाती है, उक्त लक्षण बढ़ते जाय तो शीत की प्रधानता मे रक्त जम जाता है और हृदय की गति रुक जाती है, जिसका परिणाम मृत्यु होता है। यह शीतत्व शक्ति पदार्थों से या ऋतु प्रभाव से ही हमारे अन्दर घटती या बढती है, अथवा विकार वृद्धि से। जैव जन्य व्याधियों से शीतोत्पादन प्रायः कम देखा गया है। हा विकारों की वृद्धि से या जैव जन्य व्याधि से जब यकृत अधिक विकारी हो रहा हो तो शरीर का उत्ताप अवश्य घट जाता है, और शरीर में शीत प्रकृति के प्रधान चिन्ह प्रादुभूत हो जाते हैं। यकृत विकार से उत्पन्न शीत प्रकृति में सर्व प्रथम हाथ पैर अधिक ठण्ढे होते हैं, इसके बाद कम्प, रोमांच, जड़ता आदि के चिन्ह भी देखे जाते हैं। उस तरह तो शरीर का एक २ अवयव शरीर के उत्ताप को स्थिर रखने में काम करता है, पर यकृत शरीर में उत्ताप को स्थिर रूप से रखने में प्रधान काम करता है। इसीलिये इसके विकारी होने पर शरीर का उत्ताप घट जाता है, और शीत प्रकृति के चिन्ह दिखाई देने लगते हैं।

**रुक्षता के चिन्ह**—रुक्षता स्वतन्त्र रूप से तो बहुत कम उत्पन्न होती

देखी जाती है, प्रायः उष्णता के साथ देखी जाती है। पर जब यह बढती है तो शरीर में कृशता, निर्बलता, खुश्की, नाक, मुह, होठों का खुश्क होना, श्वांस कठिनता से लिया जाना आदि चिन्ह दिखाई देते हैं। वास्तव में जब गर्मी बढ़ती है तो उस समय उत्ताप प्रभाव से शरीरस्थ प्रत्येक पदार्थ अभिशोपित होने लगते हैं, इसी से खुश्की बढ जाती हैं। यह शुष्कता शरीरावयवों को नष्ट करने में वैसा ही प्रभाव रखती है जैसी उष्णता।

**तरी के चिन्ह**—शरीर में जब अधिक तर प्रकृति बढ़ती है तो शरीर के श्लेषिक पदार्थ बढ़ जाते हैं, श्लेषोत्पादनी कलाओं में शीत की प्रधानता बढ़ जाती है, इससे इनकी क्रिया शिथिल हो जाती है, इन में विकार वृद्धि, शोथ के चिन्ह प्रादुर्भूत होजाते हैं शोथ तीन प्रकार का होता है १-रक्तज शोथ, २-विकारज शोथ, ३-वारिज शोथ, इन तीनों में से किसी कारण से शोथ हो सबमें उक्त प्रकृति का निदर्शन होता है। विकारों या दोषों के कारण उत्पन्न शोथ में यह पश्चात् देखी जाती है। शैत्यता के कारण रक्तज शोथ में तथा वारिज शोथ में यह प्रायः तरीके साथ २ देखी जाती हैं। बिना शोथावस्था उत्पन्न होने के भी यह शीत के साथ तथा स्वतन्त्र भी देखी जाती है। इसके निम्नलिखित चिन्ह हैं। शरीर की स्थूलता का बढ़ना, शरीर का भारी रहना, आलस्य व निद्रा का अधिक आना, विचार शक्ति का घट जाना, नाड़ी का भार युक्त होकर मन्द २ बहना, मुह का स्वाद मीठा या फीका रहना, उष्ण प्रकृति के पदार्थों को खाने का चित्त करना, तृषा न लगना इत्यादि मुख्य हैं।

**मिश्रित प्रकृति**—प्रायः मनुष्यों में उक्त प्रकृतियों के स्वतन्त्र रूप भी देखे जाते हैं। अर्थात् शीत के साथ तर और उष्ण के साथ रुक्ष प्रकृति का मिश्रण होता है। इससे भिन्न कभी २ खान पान व व्याधि की अवस्था में ऐसा भी देखा जाता है कि तर प्रकृति के साथ उष्णता के चिन्ह भी दिखाई देते हैं

और रुक्ष प्रकृति में एकाएक शीत प्रकृति का भी सम्मेलन हो जाता है। जब परस्पर दो मिश्रित प्रकृतियां प्रकट हों तो उनके मिश्रित चिन्ह दिखाई देते हैं।

**रोगावस्था में प्रकृति परिक्षण से लाभ**—मनुष्य जब व्याधि की दशा से युक्त होता है, तो उस समय स्वतः ही अपने को अनेक वस्तुओं के खाने और खाकर पचा जाने के अयोग्य पाता है। जिन द्रव्यों का वह नित्य सेवन करता था, अब वही द्रव्य प्रकृति विपरीत पड़ते हैं। इसीलिये ऐसे समय में उन वस्तुओं की योजना करनी पड़ती है, जिनके सेवन से प्रकृति में अन्तर नहीं पड़ता, या जिनका स्वभाव विपरीत नहीं बैठता। खान पान की प्रत्येक परिपालनीय वस्तुओं में उनके गुण, प्रभाव की ओर जितना ध्यान दिया जाता है उससे भी अधिक हमें उक्त वस्तु की प्रकृति की ओर ध्यान देना पड़ता है। क्योंकि परिपालनीय द्रव्यों का प्रभाव ऐसे समय में—विपरीत प्रकृति—में विनाशकारी परिणाम लाता है, किन्तु यह बात स्वस्थावस्था में नहीं देखी जाती। जो वैद्य प्राणियों की और पदार्थों की प्रकृति को समझे हुए होते हैं उनकी अन्नोपान व पथ्य व्यवस्था सदा ही रोगी के लिये लाभदायी सिद्ध होती हैं। इससे भिन्न औषध प्रयोग में प्रकृति परिज्ञान से महान लाभ देखा जाता है। हम इसका एक दृष्टान्त देते हैं। कुनैन और संखिया दोनों ही अत्यन्त उष्ण, रुक्ष प्रकृति के पदार्थ हैं, दोनों ही द्रव्य अपने में उष्ण प्रकृति के साथ रुक्ष प्रकृति की प्रधानता रखते हैं। वैद्य इन दोनों द्रव्यों के इस स्वभाव को अच्छी तरह जानते हैं। इस से भिन्न इस के प्रभाव को भी अच्छी तरह जानते हैं कि यह दोनों चीजें विषम ज्वर के जीवाणुओं को नष्ट करने में अद्वितीय हैं। कुनैन का प्रभाव विषम ज्वर में खाली नहीं जाता। इसी तरह संखिया के यौगिक भी कुनैन से न्यून प्रभाव नहीं रखते। यह भी विषम जैवों और विषमी विष को समूल नष्ट करने और विष में अव्यर्थ औषध है। परन्तु उक्त दोनों पदार्थ जिस समय विषम ज्वर नाशार्थ

शरीर में पहुंचाये जाते हैं, उस समय यह दोनों अपने प्रभाव के साथ २ अपने स्वभाव का स्वरूप भी रोगी पर प्रकट करते हैं। इनके सेवन से रोगी के शरीर में उष्णता व रुक्षता बढ़ जाती है। इसी लिये यदि इसका प्रतिरोधन न किया जाय तो एक ओर लाभ होकर दूसरी ओर हानि होने लगती है। कितने ही व्यक्ति उक्त वस्तुओं की प्रबल प्रकृति के शिकार हुए २ अब तक राजी नहीं हो सके हैं। कई व्यक्ति मैंने स्वयम् कानों से बहरे, मस्तिष्क विकृति ( मानसिक रोगों ) से घिरे हुए देखे हैं। इस तरह का बुरा परिणाम प्रायः प्रकृति अभिज्ञ चिकित्सकों की कृपा का फल देखा जाता है। जो चिकित्सक प्रकृति का परि-ज्ञान रखते हैं, वह ऐसी औषध का सेवन कराते समय प्रकृति को दबाने के लिये शीत, तर द्रव्यों की योजना साथ २ कर देते हैं। दुग्ध ऐसी अवस्था में अत्यन्त लाभदायी वस्तु सिद्ध हुई है, पर दधि नहीं। दूध देने पर रुक्षता अधिक दबी रहती है। इसीलिये डाक्टर तो अब कुनैन के साथ दूध देने की एक निश्चित व्यवस्था बना बैठे हैं।

वैद्यों को स्मरण रखना चाहिये कि जब वह किसी भी रोग में संखिया का प्रयोग करें, तो उसके साथ पथ्य में अम्ल युक्त पदार्थ खाने के लिये न दें। दधि शीत, तर गुण प्रधान है, परन्तु इसमें जो अम्लता होती है, वह संखिया से युक्त हो शरीर में बुरा परिणाम उत्पन्न करता है। जब संखिया की शरीर में उपस्थित हो तो किसी भी प्रकार के अम्ल खाये जाने पर इससे यह होता है कि उक्त संखिया की उपस्थिति में अम्ल प्रभाव से रक्तस्थ मूत्राम्ल व खटिकादि के लवण मांस पेशियों व रक्तवाहनियों में जमने लग जाते हैं। इससे शरीर में दर्द उत्पन्न हो जाता है। अम्लपूर्ण शीत प्रकृति की प्रधानता में संखिये का प्रभाव यह पड़ता है कि रक्तस्थ लवण व मूत्राम्ल विभक्त होने लग जाते हैं। इसीलिये ऐसे पदार्थों की योजना करते समय वैद्यों को सावधानी करनी पड़ती है, और औषध के

प्रभाव को खूब जानना पड़ता है।

हमने ऊपर प्रकृतिपर्य्यालोचन सिद्धान्त रखकर जो इसको देखने, समझने का क्रम वतलाया है वह हमारी उपज नहीं, न यूनानी चिकित्सकों का अनुकरण है, प्रत्युत उक्त सिद्धान्त आर्ष सिद्धान्त है। इस आर्ष सिद्धान्त को हमारे चरकाचार्य जी ने आत्रेय जी से लिया है इसको उन्होंने किस प्रकार माना है, हम इसके आपके सामने एक दो प्रमाण रखकर इसको पूर्ण करेंगे।

आचार्य चरक ऋषि जी चरक संहिता सूत्र स्थान के दसवें अध्याय में अपना निजमत व निजी अनुभव शिष्यों के सामने रखते हैं, जो आत्रेय जी ने अपने शिष्यों के आगे रक्खा था।

" इदञ्चेदञ्च नः प्रत्यक्षं यदनातुरेण भेषजेनातुरं चिकित्सामः। क्षाममक्षामेन कृशं दुर्बलं माप्याययामः। स्थूलं मेदस्विन मतर्पयामः। शीते नोष्णाभिभूत मुपचरामः। शीताभिभूत मुष्णेन। न्यूनान्धातून् पूरयामः, व्यतिरिक्तान् ह्रासयामः। व्याधिमूलविपर्ययेणचरन्तः सम्यक् प्रकृतौ स्थापयामः। तेषां नस्तथा कुर्वता मयं भेषज समुदायः कान्त-तमोभवति।"

अर्थ—आत्रेय कहते हैं! यह हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है कि हम रोग ग्रसित रोगी को ऐसी प्रकृति युक्त औषधियों से चिकित्सा करते हैं जो विरुद्ध गुण रखती हों।

अर्थात्—शुष्क प्रकृति रोगी को तर ( अशुष्क ) प्रकृति औषधियों से, कृश और दुर्बल को परिपालनीय (तर्पण) तर प्रकृति के द्रव्यों से। स्थूल मेदवान् प्रकृति के रोगी को रूक्ष, उष्ण ( अतर्पण ) प्रकृति की औषधियों से। उष्ण प्रकृति के रोगी को, शीत प्रकृति औषध से। शीताभिभूत को उष्ण प्रकृति के द्रव्यों से। इसी तरह शरीर के न्यून धातुओं को धातु पूरक द्रव्यों से और व्यतिरिक्त

धातुओं को शोषक द्रव्यों से घटा कर रोगावस्था में रोगी की प्रकृति के विपरीत स्वभाव सम्पन्न औषध देकर चिकित्स करते हैं। जिसने रोगी की विकृत-प्रकृति सात्म्य रूप को प्राप्त होवे। वह कहते हैं—हमारे इस तरह चिकित्सा करने पर प्रयोग की हुई औषध इच्छित फल वाली होती है। इस विषय का प्रतिपादन इन्हों ने यहीं नहीं किया है, प्रत्युत और स्थल पर भी वैद्यों की सम्मतिया उद्धृत करते हुए आपने लिखा है —

"शीते नोष्ण कृतात् रोगान् समयन्ति भिषग्विदा ।
ये तु शीत कृता रोगास्तेषां चोष्ण मिपिज्यितम्" ॥

अर्थ—श्रेष्ठ वैद्य उष्ण प्रकृति मे उत्पन्न रोगों को शीत प्रकृतोपचार से शान्त करते हैं, और शीत प्रकृति वाले रोगों में उष्ण प्रकृति का उपचार करते हैं।

उक्त प्रमाण से वैद्यों को पता लग गया होगा कि प्रकृतिवाद सिद्धान्त नया नहीं। प्रत्युत इसको ही हमारे यहा त्रिदोष-वाद में बदल कर कुछ विकृत बना दिया गया है। परन्तु, यूनानी चिकित्सा के प्रवर्त्तकों ने इसे इसी रूप में स्वीकार करके इसमें अधिक उन्नति की है। उन्हों ने इसमें यहा तक उन्नति की है, कि प्राणियों और पदार्थों में उक्त प्रकृतिया जितनी भी न्यूनाधिकता में पाई गई हैं उनकी उन्होंने मात्राए ( दर्जा ) तक निश्चित कर दी हैं।

प्रकृति की मात्राए निश्चित करने से लाभ—उन्हों नें प्रत्येक पदार्थ में उष्णता, शीतता आदि कितनी न्यून व अधिक है। इसको समझने के लिये १, २, ३, ४, का अक दे कर मात्राए बनाई हैं। चौथी मात्रा अन्त की मात्रा या डिग्री है। यही उन का अत्यधिक मात्रा (हाई डिग्री) सूचक चिन्ह है। और प्रथमङ्क साधारण मात्रा सूचक।

यूनानी चिकित्सक रोगी को देख कर सर्व प्रथम रोग का निश्चय करता

है, रोग विनिश्चिय के पश्चात् फिर रोगी की प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करता है। रोगी की प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करने के लिये रोगी से या रोगी के सम्बन्धी से पूंछ कर मालूम कर लिया जाता है कि इसको इस समय कौन से पदार्थ अनुकूल व प्रतिकूल बैठते हैं। बहुधा अच्छे वैद्य रोग से भी रोगी की प्रकृति का परिज्ञान कर लेते हैं। क्योंकि, जैसा रोगी हो प्रायः उसके कारण प्रकृति भी वैसी ही बन जाती है, तथापि कभी २ मिश्रित रोगों या जटिल रोगों में इस का प्रतिवाद भी देखा जाता है। रोग कुछ है, तो प्रकृति कुछ है।

इसलिये रोगी से पूंछ कर इसका परिज्ञान कर लेना आवश्य है। यूनानी चिकित्सक के लिये प्रकृति पर्य्यवेक्षण इतना आवश्यक है कि जब तक वह इस को अच्छी तरह से न जान ले, चिकित्सा-क्रम आरम्भ ही नहीं करता। उसको जबतक प्रकृति का पूर्णतया पता न लग जाय, उसके लिये औषध निश्चित करना कठिन बात होती है। वह रोगी में और औषध तथा पथ्य में प्रकृति के साम्यता की तुलना में कई २ दिन लगा रहता है। जब उसको रोगी के प्रकृति और औषध के प्रकृति की मात्रा का ठीक २ अनुभव हो जाता है तो फिर वह उन औषधियों को निश्चित करता है, जो ठीक—उसी मात्रा में प्रकृति विपरीत स्वभाव रखती—हुई रोग नाश के लिये ठीक ही—गुण, प्रभाव वाली हों। वास्तव में मानवी प्रकृति को देख कर उसके अनुकूल उपचार करना स्वाभाविक उपचार है। त्रिदोष-सिद्धान्त भी इसी का प्रतिपादन करता है। परन्तु, समझाने और कहने में जिन शब्दों की योजना की गई है, वह मध्य काल में चाहे समझने के लिये अनुकूल बैठते हों, इस समय यह भ्रमात्मक सिद्ध हो रहे हैं। इसलिये, हम इनको छोड़ते हैं। और उन आर्ष शब्दों के स्वभाविक रूप को रखते हैं जिसको उन्हों ने इसके लिये निजी सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया था।

# प्रभाव ।

जिज द्रव्य के स्पर्श से, दृष्टिगत होने से, सूघने से या किसी और तरह—परोक्ष, अपरोक्ष बाह्याभ्यान्तरिक प्रयोग से—शरीर में एका एक परिवर्तन दिखाई दे—अचिन्त्य कार्य-शक्ति प्रादुर्भूत हो जाय, शरीर में ऐसे परिवर्तन होने लग पड़ें, जिनकी साधारणतया आशा नहीं, रोगावस्था या दुःख काल का तिरोधान होने लगे—ऐसी पदार्थस्थ शक्ति का नाम प्रभाव है। यह प्रभाव हम पर तीन तरह से पड़ता है, एक तो सेवनीय पदार्थों द्वारा, दूसरा-पर प्राणियों द्वारा, तीसरा जल, वायु उत्ताप, प्रकाश, विद्युतादि भौतिक शक्तियों द्वारा। हम प्रत्येक पर इलहदा २ विचार करेंगे।

**सेवनीय द्रव्यों का प्रभाव**—हम किसी भी द्रव्य को अपनी इच्छा से स्पर्श करते, लगाते या खाते हैं वह सब किसी न किसी प्रकार का दृश्य या अदृश्य प्रभाव हमारे शरीर पर अवश्य उत्पन्न करते हैं। जिन वस्तुओं का प्रभाव हमारी अनुसन्धानिक दृष्टि में अदृश्य रहता हो, हमारी विचार शक्ति से परे हो, इसके कारण चाहे हम उस पर कुछ विचार न कर सकें। किन्तु जिनका प्रभाव हमको उसी समय या काल पाकर दिखाई देता है, जिसको हम समझ सकते तथा विचार कर सकते हैं। हम देखते हैं कि अनेक द्रव्य जो शरीर में परिपालनीय (क्षय-पूर्त्ति तथा स्वभाविक शरीर वृद्धि) शक्ति से भिन्न अपने विशेष प्रभाव से शरीर की क्षय पूर्त्ति व वृद्धि में सीमा से अधिक सहायता करते हैं तथा ऐसे अनेक परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं, जिनका हमें स्वप्न में भी अनुभव न था। वह द्रव्य प्रभाव शाली कहलाते हैं। इन प्रभाव शाली द्रव्यों का शरीर पर कई रूप में प्रभाव देखा जाता है। यथा शरीर को अपनी अवधि से अधिक काल तक स्थिर रखना, स्वभाव से कृश शरीर को परिपुष्ट करना, जरावस्था को

रोकना या दूर कर देना, रोगावस्था में, शरीर को उनसे वचाना या वचाने की क्षमता शरीर को देना इत्यादि। जिन द्रव्यों में उक्त कथित प्रभावों में से कोई भी प्रभाव हों,-जिनसे शरीर को अचित्य शक्ति मिले, ऐसे द्रव्यज प्रभाव का नाम जीवनीय प्रभाव कहा जाता है। हम शरीर पर जीवनीय प्रभावों की भिन्न २ कार्य शक्ति देखते हैं, और उनसे शरीर में भिन्न २ रूप प्रकट होते हैं। हम उक्त रूपों को देखकर इनके संजीवन और संशयन दो विभाग कर सकते हैं।

सजीवन—जिन द्रव्यों के प्रभाव से शरीर में क्रान्ति उत्पन्न होकर नई स्फूर्त्ति, नई शक्ति, नये शरीरावयव उत्पन्न होने लग जाय, शरीर की वह पूर्वावस्था या पहिला रूप बदल जाय, जीवन शक्ति बढ़ जाय, ऐसे प्रभाव को सजीवन प्रभाव कहा जा सकता है। यद्यपि इस तरह के अचिन्त्य शक्ति शाली द्रव्यों का ज्ञान इस समय क्वचित् ही है, तथापि पूर्व काल में ऋषियों को था। इसको भी ऋषियों ने कल्प, विकल्प और सकल्प नामक तीन भेदों में विभक्त किया था। उसी क्रम से हम करते हैं।

संशमन प्रभाव—जो द्रव्य किसी दुःख या वेदना के समय शरीर में ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं, कि शरीर उस कष्ट से शीघ्र छुटकारा पा जाय और धीरे २ शरीर निरोगता की ओर वढ़ने लग जाय ऐसे प्रभाव का नाम संशमन-प्रभाव है। दुःखों=रोगों=का शरीर में रसायनिक रूप व विष भिन्न २ प्रकार का होता है इसीसे उनके लक्षण व रूप भिन्न २ देखे जाते हैं। उनसे भिन्न २ प्रकार का प्रभाव उत्पन्न होते दिखाई देते हैं। ठीक इसी तरह भी प्रकृति ने भी अनेकों द्रव्यों में अनेकों प्रभाव शाली शक्तियां संचित करदी है। जिसके अनेकों रूप हैं। उन में से अनुसन्धान करने पर अब तक संशमन (अ) संशमन (इ) संशमन (उ) संशमन (ए) नामक चार रूप प्रत्यक्ष देखे जा सके हैं।

जिन को आधुनिक वैज्ञानिकों ने ( Vitamins A.B.C.D. ) नाम दिया है। यद्यपि इस से आगे और जीवनीय प्रभावों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सका तथापि प्रयोगवाद से हम इनको अच्छी तरह देखते व जानते हैं। इन सब का इस पुस्तक में वर्णन करना कठिन है, हा! अधिक विस्तार मे देखना चाहैं तो हमारे लिखे के चिकित्मा विज्ञान के प्रथम भाग को पढ़ें।

## प्राणियों द्वारा प्रभाव।

ससार में अनेकों पदार्थ व प्राणि ऐसे हैं जिनके देखने स्पर्श करने व बोलने से प्रभाव पड़ता है, " ज्वर हन्ति शिरो वद्ध्वा सहदेवी जटायथा " तो शास्त्र प्रसिद्ध ही है। इससे भिन्न अनेकों की वाक् शक्ति ऐसी है कि जिस को सुनकर श्रोतागण मन्त्र मुग्ध हो जाते हैं। अनेकों के हृदय पर ऐसा प्रभाव होता है कि लोग उनके पीछे लग जाते हैं। महात्मा गान्धी का असहयोग इस प्रकार के प्रभाव का एक अच्छा उदाहरण है।

विलायत वालों को जब यह पता लगा कि गौवें राग पर मुग्ध हो जाती हैं तो उन्हों ने दूध दुहते समय राग विद्या से बड़ा लाभ उठाया। दूध दुहते समय उत्तम: मोहक राग या वाद्य का प्रयोग किया, इसका प्रभाव गौ की स्तन ग्रन्थियों पर उत्तेजनाजनक हुवा, इससे अधिक दुग्ध मात्रा में बनकर उतरने लगा। जिस गौ के एक सेर दूध होता था इस विधि से २ सेर हो गया। कहते हैं कृष्ण जी की वासरी में भी यही शक्ति थी, जब वह बजती थी, जगल में चरती हुई गौवें चरना भूल जाती थीं, और उसी तरफ चल पड़ती थीं जिधर से बन्सरी की मधुर मोहनी आवाज आती थी। पाठक कहेंगे कि शारीरिक दुःखों से ऐसे प्रभाव का क्या सम्बन्ध, यह बात नहीं। राग द्वारा भी रोगों को दूर किया जाता है। शब्द समूह को एक विशेष नियम के भीतर लाकर उच्चारण करने पर

उसमें अनेक अचिन्त्य शक्ति उत्पन्न होते देखी जाती हैं। कई व्यक्ति मन्त्र शास्त्र पर विश्वास नहीं रखते, किन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि मन्त्र शास्त्र भी प्रभाव शाली व्यक्तियों के मनोनुष्ठान द्वारा शब्द समूह का ही प्रभाव है, और कुछ नहीं। जो व्यक्ति हार्दिक भावावेश में शब्दों को प्रभावित करके ठीक उच्चारण कर सकेत हैं, उनके शब्द समूहों में यह प्रभाव होता है कि इससे इच्छित काम ले सकें। फिर उनकी शब्द शक्ति उन्हीं तक सीमित नहीं रहती, प्रत्युत उक्त शब्दों को-( मन्त्रों ) जिसे वह प्रयोग की आज्ञा दें— दूसरा व्यक्ति भी मनोनुष्ठित हो उसे प्रभावित करके वह भी उतना ही लाभ उठा सकता है, जितना उसका आविष्कर्त्ता। यह तो स्पर्श शक्ति व शाब्दिक शक्ति के उदाहरण हैं। इसी तरह द्राष्टिक शक्ति का भी प्रभाव प्रत्यक्ष में देखा जाता है। अजगर सर्पों की कई जातियों में द्राष्टिक प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जाता है! उनके साथ किसी भी प्राणी की आंख मिलते ही वह प्राणी उसके आकर्षक प्रभाव से एसा आकर्षित होता है कि हिल नहीं सकता। देखते २ गति-हीन व संज्ञा-हीन होकर गिर पड़ता है। मेस्मरेज्म—विद्या भी इसी द्राष्टिक प्रभाव का एक अच्छा उदाहरण है। क्या आपको ज्ञात नहीं कि विलायत में इस द्राष्टिक शक्ति द्वारा अनेकों रोगी नित्य राजी किये जाते हैं ?

इससे भिन्न आप देखते हैं कि प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी को क्षमता-शक्ति दी है। जब किसी प्राणि पर रोग रूप में संकट-काल आता है तो वह अपने को उससे बचाने की चेष्टा करते हैं और उस समय उनके शरीर में विजय-वाहनी शक्ति का विकास होता है। इस शक्ति या प्रभाव को हम सब अच्छी तरह जान गये हैं। इसीसे इस विजय-वाहनी प्रभाव को हम पर प्राणियों से प्राप्त करने का साधन ढूंढने लगे। जिसके परिणाम स्वरूप इस समय की सीरम चिकित्सा है।

**भौतिक प्रभाव**—जो शक्ति प्रकाश, विद्युत आदि से निकल कर—बिना किसी

आश्रय के शरीर पर अपना प्रभाव उत्पन्न करती है, उसका नाम भौतिक प्रभाव है। आज कल एक्स किरण ( रोजन प्रकाश ) परा-कासनी प्रकाश, सूर्य-रश्मि, रेडियो-प्रकाश, विद्युत प्रभाव आदि के अनेकों चिकित्सालय विलायत में खुल हुए हैं, जिनके द्वारा एक नहीं अनेकों प्रकार के रोगों की चिकित्सा होती है। यहां भी इनसे लाभ उठाया जाने लगा है। यह सब उक्त भौतिक प्रभाव का फल है॥

**उक्त प्रभावों का संमिश्रण**—संसार में बहुधा अनेकों पदार्थ सम्मिश्रित प्रभाव भी रखते है, कई एक भिन्न भी। इन भौतिक शक्तियों का प्रभाव तो प्रायः परिस्थिति विपरीत न हो तो कोई विशेष उलटे फेर नहीं देखा जाता, एक सा ही स्थिर रूप व गुण देखा जाता है। परन्तु रसायानिक रूप वाले अनेक जड़, चैतन्य पदार्थों में यह बात नहीं। इनमें परिस्थिति प्रभाव से कोई न कोई सूक्ष्मति सूक्ष्म अन्तर अवश्य आता रहता है। यदि पदार्थ जड़ है तो उसका रसायनिक स्थिति के साथ २ प्रभाव भी स्थिर हो जाता है और यदि चैतन्य है तो उसको प्राणिज परीस्थिति के अनुसार प्रभाव में अन्तर पड़ जाता है।

**संसार में प्रभाव की खोज**—जब इसबात का पता लगा कि ससार गुण दोष मय है, इसमें अच्छे और बुरे हर एक तरह के प्रभाव वाले द्रव्य विद्यमान् हैं। इससे भिन्न इस बात का भी पूर्ण ज्ञान हुआ कि बड़ी २ सञ्चारी व्याधियां स्वतः शरीर में उत्पन्न नहीं होती, प्रत्युत इनका कारण जैवों द्वारा शरीर पर होने वाला प्रभाव है। यह जैव और इन जेवों के विष ही शरीर को अधिक हानि पहुंचाते हैं तो उससमय इनसे बचने के उपाय मालूम किये जाने लगे। बाह्य जगत् में जन्तु नाशक प्रभाव वाले द्रव्य तो सहज में प्रयोग द्वारा जाने तथा व्यहार में लाये गये, पर शरीर के भीतर यह बात नहीं, बाह्य जगत् से हमारे अन्तर का जगत् निराला है। शरीर में तो प्रत्येक तरफ सजीव ही सजीव जगत् है, उसीमें रोग कारक जैवों का भी प्रवेश हो रहा है। यदि हम बाह्य जगत्वत् ही जैव नाशक वस्तुओं

-का प्रयोग अपने अन्तर जगत् पर करते हैं तो जैव नाशक द्रव्द का प्रभाव केवल जैवों पर ही नहीं पड़ता, प्रत्युत उनसे हमारे शरीर के सजीव कोष–भी उसी तरह–मरने लगते हैं जिस तरह जैव। क्योंकि जीवन शक्ति दोनों में एक है। शरीर के सजीव अवयव जब मृत होने लगें तो भय होता है कि कहीं यह–एक दैशिक मृत्यु फैल कर सार्वदैशिक न हो जाय। जिससे जैवों का नाश करते २ शरीर का ही संहार कर बैठें। इसीलिये, जैव नाशक वस्तुओं के अभ्यान्तरिक उपयोग में बड़ी सावधानी की आवश्यकता पड़ी। और इस बात की खोज होने लग पड़ी, ऐसी चीजें ढूढ़ी गईं जिनका प्रभाव शरीरावयवों पर तो कुछ न हो, यदि हो भी तो साधारण। पर व्याधि–जनक जैवों व जैव विषों को नष्ट करने में पूर्ण सफल हों। सृष्टि में अच्छी वस्तुऐं है, तो बुरी भी है। जैव जैव जनित विष है, तो प्रकृति में जैव व जैव विष नाशक वस्तुओं का होना भी अनिवार्य है। क्यों कि ससार गुण दोष मय है, इसीलिये खोज जारी रही। जिसका परिणम स्वरुप अनेकों ऐसी वस्तुएं प्राप्त होती चली जारही हैं जो इन जैवों और जैव जनित विष को नष्ट करने में अमोघ सिद्ध हुई हैं॥

हमेंभी इस अन्वेषणीय संसार में आकर अपने आयुर्वेद–का गौरव–प्रकट करना है, और ससार को यह दिखला दे कि–जो खोज व विचार शक्ति हमारे पूर्वजों में थी वह हम में भी है; हम इससे से वञ्चित नहीं॥

## मन्थर ज्वर में अनुभूत द्रव्यों की खोज

हम पीछे दूसरे अध्याय में दिखला चुके हैं कि कई जैव जनक व्याधियां इसलिये अवधिवन्धी हैं कि उनके विष के मुकाबले में प्रति–विष एक निश्चित अवधि के पूर्व नहीं बनता। यदि हमको ऐसे द्रव्य मिल जांय जिनका प्रभाव एक निश्चित समय से पूर्व या व्याध्योद्भव के साथ ही प्रति-विष निर्माण का क्रम जारी करदे तो रोग अपनी अवधि से पूर्व दूर किया जा सकता है; इस तरह नहीं।

परन्तु हम देखते हैं कि आज तक ऐसे द्रव्य बहुत ही कम मालूम हुए है, कि जो रोग को अवधि से प्रथम ही दूर करदें। जबतक इस बात का ज्ञान ही नहीं था, कि रोग के समय औषध शरीर में क्या काम करती है, तथा शरीरावयव अपने लिये क्या करते हैं? तबतक तो किसी निश्चित मार्ग पर चलना कठिन था। किन्तु जब इस बात का पता लग गया कि औषध का महत्व इतना ही है कि—यदि उसमें कोई प्रभाव है तो–वह अपनी शक्ति से शरीरावयव को—रोगों के समय रक्षा करने में सहायता देसकती है, यह निश्चय हो गया तो इसकी एक क्रमबद्ध खोज की जाने लगी। वैज्ञानिकों ने ऐसे प्रतिविष तय्यार किये जिन को रक्त में सीधे सूचीवेधन द्वारा पहुँचा कर रोग पर विजय प्राप्त करने का साधन निकाल लिया। क्योंकि व्याधि काल में जिस प्रतिविष की शरीर को अवश्यकता थी उसको उन्हों ने पर प्राणियों द्वारा प्राप्त कर लिया। यद्यपि यह क्रम हर एक सञ्चारी व्याधि में सफल नहीं हुआ। तथापि इसके शरीर में प्रतिविषोत्पादक सिद्धान्त ऐसे हैं जिनसे भविष्य में सफलता मिलने की आशा है। कई औषधिया भी प्रति विषोत्पादक मिल गई हैं।

मन्थर ज्वर के लिये प्रयत्न हो रहा है कि इसके निवारणार्थ प्रतिविष तय्यार किया जाय, परन्तु अभी तक कोई सफलता के चिन्ह दिखाई नहीं दिये। हमने भी एक औषध प्रस्तुत की है और उसका फल भी बहुत अच्छा निकला है। मन्थर ज्वर में आरम्भ से देने पर ज्वर (उत्ताप) नहीं बढ़ता, शरीर का उत्ताप ९९॥—९९ ही रहता है, परन्तु मन्थर के दाने अवश्य निकलते हैं। जबतक सौ दोसौ व्यक्तियों पर इसकी परिक्षा न हो जाय, तबतक प्रकाशित करना मैं उचित नहीं समझता। इतने समय तक अपने प्राचीन अनुभूत क्रम को ही वैद्यों के समक्ष रक्खूंगा।

---

# मन्थर रोगी का चिकित्सा क्रम और अनुभूत द्रव्य

वैद्य को ज्वर होने के पश्चात् जब इस बात का ज्ञान हो जाय कि इसको मन्थर ज्वर है। उस समय सर्व प्रथम "ज्वरादौ लंघनं कुर्य्यात्" की शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार—निश्चित रूप से—सम्मति दें। छोटे नवजात शिशु तक को इसका विधान नि.सकोच करे। और दुग्ध के स्थान पर बच्चों को दुग्ध जल और शुद्ध जल गाजवां का अर्क पान करनेके लिये दे। इसीके साथ कोष्ट शुद्धि के लिये सरल रेचनी बटी का निम्न लिखित योग दें॥

**सरलरेचन (अव्यकंचुकी)**—पारद, गन्धक, हरताल वर्की, मीठा तेलिया—प्रत्येक वस्तुएँ शुद्ध हों त्रिफल, त्रिकुटा सब वस्तुओं का चूर्ण एक २ भाग शुद्ध जपाल तीन भाग या सब का तिहाई डाल कर २१ दिन तक भृगराज के रस में खरल करके मुन्द बराबर गोली बनालें। इसकी ४ से ८, गोली तक मात्रा है। रोगी की अवस्था, रोगी दशा व प्रकृति, उदर की कठिनता मृदुता ऋतु की अनुकूलता विपरीतता देखकर इसकी मात्रा निश्चित करें। कई बार छोटे से छोटे बच्चे दो २ से चार २ गोली तक खा जाते हैं तब कहीं जाकर उनको शुद्ध या पूर्ण शौच आता है, कई बालकों को एक ही गोली दो २ तीन २ रेचन लाती है। जिसको एक या दो से अधिक रेचन आवें, रेचनीय मल अत्यन्त तरल आवे, ऐसे समय बड़ी सावधानी से इसका प्रयोग करें। मलका अत्यन्त पतला जलवत् आना अत्यन्त हानिकर है। अत्यन्त मल के द्रव होने का कारण रक्त-वारि का अंश अन्त्र की ओर खिच कर चला आता है अर्थात् औषध प्रभाव से अन्त्र भाग में खराश ( औषध जन्य प्रदाह ) हो जाता है, जिससे वहां की श्लैष्मिक कला विकृति हो जाती है और वह

रक्तस्थ तरल द्रव का आचूषण कर अन्त्रकी ओर खींचती रहती है, जिससे जलवत् दस्त (जुलाब) आने लगते हैं। शरीरमें इस रक्तस्थ जलके घटने से एकाएक निर्बलता प्रतीत होने लगती है, शरीर अत्यन्त शिथिल व क्षीण हो जाता है। चिकित्सक को चाहिये कि इस ज्वर में इस अवस्था को कभी न आने दे, नहीं तो भयंकर आपदा आ जाती है। एक तो-अन्त्रकला प्रथम ही मन्थर मल व मन्थरी कीटाणुओं के कारण विकृत होती है, दूसरे औषध के विपाक्त प्रभाव से जहां अधिक दूषित हुई कि एकाएक फिर उसका जल्दी संभलना और अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसीलिये तीव्र रेचन इसमें वर्जित है। किन्तु, शौच लाने के लिये मृदु रेचन देना आवश्यक है। जिससे एक वार या दिन में दो वार मल मात्र निकलता रहे, ऐसी सरल सारक वस्तु देना निशिद्ध नहीं। मैं तो इस सरल रेचनी को प्रायः रात्रि में उपयोग कराता हू, ताकि प्रभात में ही शौच आया करें।

**रात्रिमें इसके सेवन करानेके लाभ**—रात्रि को इस औषध के देनेसे दो लाभ हैं, एक तो रोगी के निन्द्रागत होने पर रेचनौषध का रेचक प्रभाव पाचक प्रभाव के रूप में बदल जाता हैं। दूसरे प्रभात में स्वाभाविक ही शौच आनेका अभ्यास होने के कारण आन्त्रिक शक्ति द्वारा शौच लाने में सहायता मिल जाती है। क्योंकि, शरीर को जिस समय के लिये जो अभ्यास डाल दिया जाय, वह बना रहता है। इसीलिये ऐसे समय पर आकर ही शरीर के वह अंग अधिक गतिशील होते हैं। आंतें भी प्रायः शौच के लिये प्रभात में ही अधिक गति शील होती हैं, इसलिये औषध से गतिशीलता में इनको और सहायता मिल जाती है, और मल आसानी से बाहर हो जाता है।

**अश्वकंचुकी के गुण**—इस औषध का यही गुण नहीं कि केवल रेचन लाती है। प्रत्युत, वह औषध हमारे यहां योगवाही मानी गई है। अर्थात्

अनोपान भेद से अनेकों रोगों पर चलती है। गोरखनाथ नाम के चिकित्सक ने लिखा है, कि हम इसको ६४ प्रकार के भिन्न२ रोगों व उपद्रवोंमें वर्त्तते हैं। खैर! हमने तो इतने रोगों पर इसका अनुभव नहीं लिया है, पर फिर भी १५—२० रोगों पर हमने भी इसका अनुभव किया है। अच्छी लाभकारी है। किन्तु हम इन सबका वर्णन यहा नहीं करेंगे। क्योंकि यह पुस्तक एकतो इसी तरह अधिक बढ़ गई है तथा और अधिक बढ़ जाने का भय है। इसीलिये-हम यहां पर इस रोग में लाभकारी अंश है, उसी का वर्णन करेंगे।

**जैव विष व जैव नाशक गुण**—इस औषध में पारद, गन्धक हरताल आदि ऐसी वस्तुऐं पड़ी हैं जो जैव जनित विष को नष्ट करने का प्रभाव रखती हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक प्रकार के जैवों को या जैव विषों को यह नष्ट नहीं कर सकती। न प्रत्येक तरह के विष को नष्ट कर सकती है। विषम ज्वर के जन्तुओं पर तो उक्त औषध का विशेष प्रभाव होता है, पर मन्थर के जन्तुओं पर भी इसका कुछ कम प्रभाव नहीं होता। हाँ! प्रतिविष निर्माण में यह औषध शरीर को थोड़ा सहयोग देती है, यदि इसका सेवन मात्रा या प्रकृति के अनुकूल बराबर बना रहे तो मन्थरी मल अवश्य जल्दी निकल जाता है, इसीलिये इस ज्वर में इसका प्रयोग अवश्य जारी रखना चाहिये। दूसरे यह उदर में अधिक उठने वाली सड़ाँध को रोकता है। चमरस विष का नाशक है। इस औषध के पश्चात् अब यह आवश्यकता है कि प्रति-विष उत्पन्न करने वाला द्रव्य शरीर में पहुँचाया जाय जिससे मन्थर के दाने अपने समय पर अवश्य निकल जांय। बहुत से चिकित्सक इस बात मे सहमत नहीं, कि इस में दाने निकालने के लिये औषध देना आवश्यक है। वह कहते हैं दानों या धब्बों का प्रादुर्भाव तो रोग का एक चिन्ह है, इस चिन्ह का रोग के कारण से कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं। जैव और जैव जनित विष को दूर करना

चाहिये। इन दानों या धब्बों को प्रादुर्भूत करने की चेष्टा वृथा है।

ऐसी सम्मति देने वाले चिकित्सकों को स्मरण रखना चाहिये कि इन दानों और धब्बों का इस व्याधि के जैव विष से बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है।

(१) जब तक दाने या धब्बे प्रादुर्भूत न हों, प्रथम रोग का होना पूर्ण रूप से निश्चय नहीं होता।

(२) यदि समय पर दानों का प्रादुर्भाव न हो तो ज्वर अनिश्चित समय तक बना रहता है, अर्थात् फिर अवधि की कोई सीमा नहीं रहती।

जब अधिक दिन तक दाने न निकलें तो इसका परिणाम भी भयंकर हो जाता है। और प्रत्यक्ष में रोग बढ़ जाता है उपद्रव बढ़ जाते हैं। अर्थात् मन्थरी विष के साथ उदरी-विष उत्पन्न होने पर इसको बाहर निकलने से रोक देता है। और इसके इस रसायनिक रूप का विच्छेदन होने नहीं देता। इसीसे रोग की जड और दृढ हो जाती है, ज्वर दूर होने में नहीं आता। यदि कोई ऐसा द्रव्य शरीर में पहुचा दिया जाय जो प्रति-विष उत्पन्न करने में सहायता दे, तो इससे दाने या धब्बे प्रादुर्भूत व तिरोभूत होने लगते हैं, परन्तु यह दानों को निकालने वाली औषध का किसी ने भी वर्णन किया। एलोपैथी, होमोपैथी और यूनानी चिकित्सा में मुझे अब तक इन में एक भी ऐसी औषध नहीं मिली जो इन दानो को निकालने में शरीर की सहायता करती हो। हां आयुर्वेदिक चकित्सा में इसकी एक नहीं कई औषध है। उनमें से दोपहर न० १ व दोपहर नं० २ की औषध अत्यन्त अनुभूत है जिन का योग आगे देता हू।

## दोपहर न० १ का योग (भृंगराज भस्म)

**विधि**—भृंगराज के छोटे२ टुकडे करके अर्क दुग्ध में भिगो दें तीन दिन भीगा रहने के पश्चात् निकाल कर अर्क पत्र में लपेट संपुट कर पूरे गजपुट की

अग्नि दे दें, स्वेत वर्ण की भस्म बन जायगी, जो काली रह जाय उसको फिर अर्क दुग्ध में घोट कर अग्नि दें। तत्पश्चात् पीस कर रख लें। यह है दोपहर न० १ का योग।

**शृंगराज भस्म के गुण प्रभाव**—यह उष्ण रूक्ष प्रकृति का द्रव्य है। इसके सेवन से शरीर का आदि में तर व श्लेष्म भाग घटता है। और आन्तरिक अवयवों में या शरीर में शीत की प्रधानता हो तो इसके सेवन से जाती रहती है। यह अधिक खाने पर उत्ताप व शुष्की को बढ़ाता है, किन्तु न्यूनमात्रा में देने पर विकृत या विष जन्य उत्ताप को घटाता है, और शरीर में प्रतिविष को उत्पन्न करने में सहायता देता है। शरीर को स्फूर्ति देता है, प्रायः लसिका वाहनी, व श्लैष्मिक कला का संशोधन करता है और आन्तरिक आक्षेप यथा वक्षोदर माध्यस्थ पेशी, श्वासपथ, वायु मन्दिर आदि के आक्षेप को रोकता है, हिक्का, श्वांस, कास में लाभकारी है। यकृत शोथ, फुफ्फुसावरक प्रदाह आदि में भी महान् लाभकारी है। मन्थर-ज्वर के रुके हुए दाने, विकृत श्लेषी-विष को अपने प्रभाव से बाहर करने में शरीर को बड़ी सहायता देता है। मात्रा इसकी दो चांवल से १ रत्ती तक है। मन्थर ज्वर में निम्नलिखित क्वाथ से दोनों समय इसका सेवन उस समय से आरम्भ कराना चाहिये, जब से यह निश्चय हो जाय कि यह वास्तव में मन्थर ज्वर है।

**खूबकलादि क्वाथ**—खूबकला ६ माशे से ढाई तोले तक, मुनक्का ३ दाने से १४ दाने तक। मुनक्का काले वर्ण की लेना चाहिये, स्वेत जाति की मुनक्का हीन होती है। उक्त मात्रा छोटे ६ मास के बालक से लेकर १५ वर्ष के बालक या पूर्णवयस्क के लिए है।

इन दोनों वस्तुओं को जल से धोकर मुनक्का के बीज निकालकर अठगुने जलमें क्वाथ कर चतुर्थांश या षष्ठांश रहने पर उतार छान सुखोष्ण में थोड़ा

सा शहद डालकर उक्त दोषहर न० १ की मात्रा के साथ पिलावें।

**इस क्वाथ के गुण प्रभाव**—यह क्वाथ साधारण उष्ण प्रकृति का है इसमें सब से बड़ा गुण प्रभाव यह है कि इसके आरम्भ से सेवन करते रहने पर दोषहर की शक्ति बढ़ जाती है। दूसरे यह मृदु सारक भी है, तीसरे प्रति-विष उत्पादन में शरीर को इससे बड़ी सहायता मिलती है। रुके हुए दाने या श्लैष्मी और उदरी मल शीघ्र ही बाहर निकल आते हैं। यह क्वाथ श्रोतों का बड़ा अच्छा संशोधक व श्लैष्मिक कला का बल दायक है। हमारे देश की यह एक प्राचीन औषध है, जो बहुत प्राचीन काल से मन्थर के-लिये प्रयुक्त होती चली आई है। विशेष कर पजाब प्रान्त में इस क्वाथ को बिना किसी औषध के भी देते हैं। इस क्वाथ में शरीर परिपालनीय गुण भी काफी है, अर्थात् यह क्वाथ गुण और प्रभाव दोनों से युक्त है।

## दोषहर न० २

**कूर्माचल वटी**—कच्छपपृष्ठास्थि को कूटकर या जल में घिसा कर खूब सूक्ष्म चूर्ण बना लें, जब यह खूब सूक्ष्म हो जाय तो इसमें काली मुनक्का इतनी मिलावें जिससे वटी बनाई जा सके। दोनों को मिलाकर खूब कूट कर एक जान करलें, पश्चात् चने के दाने बराबर गोली बनाकर रख लें।

अनोपान जल या उक्त क्वाथ से मात्रा ½ गोली से २ गोली तक।

**दोष हर का प्रभाव**—जिन रोगियों के शरीर में मन्थरी विष रुक जाता है, मन्थरी मल की विकृति मन्दगति से होती है, शरीर में मन्थरी दाने नहीं निकलते या एक आध बार दिखाई देकर तिरोहित होजाते हैं, फिर नहीं निकलते। ज्वर यथावत् बना रहता है, उपद्रव नहीं घटते, इस दशा के बने रहने पर यह निश्चय होजाता है कि शरीर प्रतिविषोत्पादन में असमर्थ हो रहा है विजय-वाहनी-शक्ति उद्भूत नहीं हुई। ऐसे समय दोषहर नं० २ को देने पर किसी २ के शरीर में

उसी दिन किसी के दूसरे तीसरे दिन परिवर्त्तन दिखाई देता है। सर्व प्रथम मन्थरी दानों का प्रादुर्भूत होता है। किसी के तो यह दाने इतनी अधिकता से निकलते हैं कि सारा वक्षस्थल, ग्रीवा और उदर तक परिपूरित हो जाता है। मन्थरी दानों का निकलना, इस बात का निश्चित चिन्ह है कि औषध प्रभाव से शरीर की विजय वाहनी में प्रति विषोत्पादन का प्रादुर्भाव होने लग पड़ा है। अनेक बार देखा गया है कि मन्थरी दाने जितनी जल्दी निकल जांय उतनी जल्दी लाभ होता है। कई बार जब उपद्रव बढ़े हों और दाने दिखाई दें तो उस अवस्था में उपद्रवों के कारण शरीर की अवस्था खराब होजाती है। शरीर के अग प्रत्यङ्ग रोग प्रभाव से अधिक प्रभावित हो चुके होते हैं, ऐसी अवस्था में विजय वाहनी शक्ति का कार्य केवल प्रतिविष निर्म्माण ही नहीं होता, प्रत्युत उक्त रोग प्रभावित अंगों के रक्षा का भी कार्य होता है। उस समय शरीर को केवल प्रति विषोत्पादक पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती, प्रत्युत उक्त अंगों को अपने पूर्व रूप में लाने की भी आवश्यकता होती है। उस समय जो चतुर चिकित्सक दोष हर नं० २ के साथ उन अंगों की विकृति से बचाने वाली और उनको पूर्वावस्था की ओर लाने वाली औषध की योजना कर सकता है वह सफल हो जाता है, अन्य रह जाते हैं।

दोषहर नं० २ प्रति विषोत्पादन करके शरीर, या शरीर की विजय वाहनी शक्ति की पूर्ण सहायता करता है। यदि शरीर के यकृत, प्लीहा, अमाशय, अन्त्राशय, फुफ्फुस, शीर्ष आदि कोई अंग रोग प्रभाव से अधिक प्रभावित होकर विकृत न हुए हों तो उक्त दोषहर के सेवन से मन्थरी विष व मन्थरी मल का प्रभाव घटने लगता है और शरीर की विजय वाहनी शक्ति प्रबल हो उठती है इससे प्रायः देखते २ दो चार दिन में ही व्याधि का वेग घट जाता है और रोगी शीघ्र स्वस्थावस्था प्राप्त कर लेता है।

दोषहर नं० २ कठिन से कठिन अवस्था में जब कि रोग जीर्ण हो चुका हो लाभ करता है, हमने मन्थर के रोगी जिनका रोग दो २ तीन २ वर्ष का पुराना था इसी दोष हर की कृपा से ठीक किया है।

**फुफ्फुस-प्रदाह और चिकित्सा**—मन्थर के वेग काल में बहुतों को न्यूमोनियां हो जाता है जिससे बचने के लिये निम्नलिखित योग का प्रयोग उस समय से जारी करदें, जब से फुफ्फुस प्रदाह का भ्रम हो जाय।

**चतुर्मुख रस**—शुद्ध पारा शुद्ध गंधक, शुद्ध रस सिन्दूर, अभ्रक भस्म "अर्क दुग्ध से भाव प्रकाशोक्त" सब समभाग लेकर अद्रक रस से माष प्रमाण गोली बना ले। फुफ्फुस प्रदाह की प्रथमावस्था से लेकर तृतीयावस्था तक प्रबल वेग में भी इससे लाभ उठावें। प्रबल रोग में इसको दो २ घन्टे बाद एक २ गोली अद्रक रस, पान रस, तुलसीरस या अर्क गावजवा से बराबर देते रहें। जब तक अच्छी अवस्था न दिखाई दे। रोग वृद्धि के साथ इसके देने का समय घटाना चाहिये और रोग के घटने के साथ के देने का समय बढ़ाना चाहिये।

**यकृत्द्यालोदर**—इस रोग में यकृत भी प्रायः बढ़ जाता है, इसलिये इसकी ओर भी वैद्य को आरम्भ से ध्यान रखना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि जिन व्यक्तियों के उदर में उदरी मल अधिक सञ्चित होता है उनको ही अक्सर यकृत्द्यालोदर होता है। यकृत न बढ़े इसके लिये आरम्भ से ही इस बात का ध्यान रखा जाय, उदरी मल सञ्चित होने या बढ़ने न पावें, इसका सब से अच्छा उपचार लंघन और मृदु विरेचन या सारन औषध का आरम्भ से प्रयोग है। जिन रोगियों के यकृत बढ़ गये हों उनको निम्नलिखित योग सेवन कराना चाहिये।

**मण्डूर वटी**—मण्डूर भस्म १ भाग को लेकर गोमूत्र ६४ भाग में डालकर अग्नि में चढ़ा दें, जब गो जल सूख जाय तो उतार कर उसकी ८ रत्ती

की गोली बनाकर रख लें, मात्रा १ से ४ गोली तक वय व रोगावस्था के अनुसार सौंफ के अर्क से दें। यदि मन्थर ज्वर के पश्चात् यकृत वृद्धि की अवस्था हो तो तक्र के साथ या शर्बत दीनार के साथ दें। शर्बत दीनार का योग किसी यूनानी पुस्तक से देख सकते हैं।

**उपसंहार**—इस रोग में जितना भी चिकित्सा क्रम है उसको विस्तार के साथ लिखा जाय तो इतना ही स्थान और चाहिये, जितना इस पुस्तक ने लिया है। चिकित्सक को स्वयं ही प्रत्येक क्रम को जानकर उससे आगे अनुभव प्राप्त करना चाहिये। मैंने यहां पर जो योग व क्रम दिया है बिलकुल सिद्धान्त रूप से अच्छी तरह समझकर व अनुभव करके दिया है। रोगावस्था के समय रोगी से या वैद्य से असावधानी नहीं होनी चाहिये। न खान पान के लिये रोगी को खुला छोड़ देना चाहिये। प्रत्युत आरम्भिक रोगावस्था में पूर्ण लंघन और विकृतावस्था में भी पूर्ण लंघन दें। क्षीणावस्था में सेब अंगूर, नासपाती, अनार मीठा, माल्टा आदि फलों का थोड़ा २ रस व दुग्ध जल।

**दुग्ध जल बनाने की विधि**—कच्चे या उबले हुए दूध में थोड़ा सा सिरका या दही प्रथम डालकर उस दूध को पुनः अग्नि पर चढ़ादें, निमक भी छोड़ते हैं। इस से दूध का किलाट या पनीर फटकर भिन्न हो जाता है उस समय इस को छान लें फिर उस दुग्ध जल में थोड़ा सा मीठा डालकर इसको पथ के लिये देना चाहिये। किलाट या पनीर नहीं।

जब तक रोग न दबै कभी भी किसी भोजन की व्यवस्था न दें। इस मूल मन्त्र को कभी भी चिकित्सक न भूलें, सदा सफलता उनके साथ रहेगी। जन्मजात बालकों को मैंने इक्कीस २ दिन का लंघन अपने निजी अनुभव पर दिया है। कभी कोई हानि नहीं हुई। रोग के घट जाने पर भोजन की व्यवस्था करना चाहिये, यही अनुभवी चिकित्सकों का उपदेश है।

॥ ओ३म् शम् ॥

# परिभाषिक शब्द

| | | |
|---|---|---|
| १६ | असंचारी | Endemic |
| १२८ | आन्त्रिक कला प्रदाह | Enteritis |
| ७७ | अस्थि वृद्धि दोष | Calcibication |
| ६८ | आचूषक | Epithelium & Cilirem |
| ६८ | आसन्न | Spoeres |
| ५१ | आन्त्रिक रस | Secretion |
| ४२ | अन्न प्रणाली | Esophagus Duct Diges tibecanal |
| १६ | अनुकूल | Adaptaion |
| ६४ | अन्न जिद | Proteid |
| ४६ | अन्न जनीय | Piotions |
| | अण्डसित | Albumin |
| ६२ | अनैच्छिक क्रिया | Refiex action |
| १५ | आदि प्राणी | Amoeba |
| १५ | आदि जैव | Amoeba & protozoa |
| १२८ | अन्त्र कला | Intestine Membraes |
| ३५ | आन्त्रिक ग्रन्थिया | Intestine glands |
| ४६ | अन्नजिन | Protein |
| ४८ | उदरीय ग्रन्थिया | Peptic Glads |
| ४८ | उदर ग्रन्थी रस | Gastric jvice |
| ४६ | उदरीय कैणवी रस | Pepsin |
| ४८ | उदर दरी | Abdomen Fossa |

| | | |
|---|---|---|
| ७६ | जीवाद्यम | Protoplasm |
| १३८ | ज्वर (संताप) | Fevei |
| ७६ | जीवाद्यम वृद्धि | Hypeiplasia |
| ८७ | जैव प्रसारक | Germ carriars |
| १४० | जीवन शक्ति | Vitality |
| १४२ | जीवन युद्ध (संग्राम) | Stroggle Forexistence |
| ५६ | जीवनीय तत्व | Bitamins |
| १३ | जैव सिद्धान्त | Germs Theory |
| १४ | जीवाणु | Protozoa |
| १५ | जंगम वर्ग | Vegetable world |
| १४२ | जीवन | Life |
| १५ | जैव | Germs (slicrobes) |
| २१ | जैव जन्य व्याधि | Germs—disease |
| २६ | जैव-विष | Toxin |
| ४३ | डुएडुम | Rectum |
| ७६ | तन्तु वृद्धि | Lardaceous digencration & Amiloid digeeseiation |
| | दुग्ध कैएवी रस | Renin |
| | दूधिया लेह | Emulsion |
| ४६ | दधीन | Renin |
| ,, | द्राक्षोज शर्करा | Glucose |
| ,, | द्राक्षीन | Glycogen |
| ७३ | दोष संचय | Infiltration |

| | |
|---|---|
| ७३ नाश | Gangrene |
| निर्जीव | Non Living |
| ६३ नत्रजनीय | Nitrogenous |
| ४६ नत्रजन | Nitrogen |
| ३७ निःश्रान्तकी | Influenza |
| १७ प्रधान व्याधि | Important disease |
| १४३ प्रकृति विपरीत | Antrgonetion |
| ८२ परिपाचन | Assimilation |
| १०२ प्रसूता ज्वर | Puerperal Feure |
| प्रागूरूप | Inculcation Period (First Stage) |
| ७६ प्रदाह | Inflammation |
| पास्चुर | Pasteur |
| १३१ परिपालनीय गुण | Toniec Vitality |
| प्रभाव | Abbection |
| १३१ परत परिपालनीय गुण | Restoratives |
| १२७ पदार्थ शक्ति | Methei Energy |
| ६१ पच्य रूप | Chime |
| ३८ पाचक रस | Alementric Juica |
| ५१ पच्य लेही | Chime |
| ५१ परिपच्य लेही | Kime |
| २७ प्रति विष | Anti--Toxin |
| पूयोत्पादक जैव | Pusforming (streptococous) |
| १६ परिवर्त्तन | Variation |

२० परिस्थिति — Environment

१३२ प्रकृति (स्वभाव) — Humour

५० प्रति जैवी — Anti septic

१४ परोप जीवी — Parasite

३३ पैत्रिक संस्कार — congenital or Heredilary Infivences

४८ पाचीन — Pepsin

१४२ प्रदाह — Inflammation

प्रभाव — Impression

६० पाचक यन्त्र — Digeslivec System

६३ फूई — Mould

३७ फुफ्फुसावरक — Pleura

६ फिरंग रोग — Syphilis

३७ फुफ्फुस प्रदाह — Pneumonia

३७ फुफ्फुसावरक प्रदाह — Pleuritis

४६ फलोज शर्करा — Froctose

५४ बन्धन पुच्छ — Appndics

७७ वसा वृद्धि दोष — Fathy Infiltration

७७ मास वृद्धि — Gigantism

७८ मलोद्भव दोष — Foreipgnation

६१ मन्थरी जैव केन्द्र — Typhoidic Sentebacilluss

६२ मन्थरी मल — Typpoidic Poisons

६७ मन्थरी दाने — Typhoidicspot

११६ मन्थरी शोष — Tsphoidic Cirrhosis

| | |
|---|---|
| १६ मन्थर कीटाणु | Typhoid Baıcilli |
| १२ मन्थरी जैव | Typhoid Batcılh |
| १ मन्थर ज्वर | Typhoıd |
| ४६ मुखस्थ ग्रन्थिया | Salıuary gland |
| ४६ मण्ड मय | Starchous and Starchy |
| १४१ मूत्राम्ल | Urıc acıd |
| ४६ यवोज शर्करा | Maltose |
| १२१ यकृत वृद्धि | Enlargment of Liar |
| १३६ रक्तज शोथ | Inflammation |
| -१५० रक्त वारि | Blood Plasma |
| ७२ रक्त संशोधनी ग्रन्थी | Kidneys and lengs |
| रस वाही ग्रन्थी | Mesentric gland |
| ५० रक्त जन | Haemoglobin |
| -५० रक्त जिन | Hematın |
| रञ्जन किरण | X. Ray |
| ३४ रोग निवारक शक्ति | Power of resisting disease |
| ४८ रसायनी प्रक्रिया | Chemicat action |
| ४६ लवणाम्ल | Hydrochloric acid |
| ४० लेही | Chime |
| ३५ लसिका ग्रन्थी | Lymph itie Glands |
| ५१ लसिका | Lymph |
| ३७ लसिका वाही श्रोत | Lymph Vessel |
| ४७ लाला कैरव | Ptyline |

| | |
|---|---|
| ४७ लाला ग्रन्थी | Salıvary glands |
| ४७ लाला रस | Salıva |
| ६८ वाष्प | Gas |
| ७६ वृद्धि दोष | Infiltratıon |
| ५६ विकृति | Degeneration |
| ६० व्याधि मूल | Earcign mater |
| ८६ विभाजन क्रम | Repıoduetion |
| वाष्पै | Gasous |
| ५४ विश्लेषण | Analysıs |
| ६८ विकृत मल (पदार्थ) | Foreıgn mater |
| ७० वाष्पीय | Gasous |
| १५ वक्राकृति | Spırılla |
| १५ विन्द्वाकृति | Cocı |
| १८ विजयवाहनी शक्ति | Harmone & Chalaries |
| ,, विकारी शोथ | Cloudy Sevelling |
| ,, वारिज शोथ | Dropsy |
| ५४ विसर्जनी क्रिया | Peristaltıc action |
| १३१ शोथ | Inflammation |
| ,, शोष | Cırrhosis |
| २४-७४ शार्करी | Carbohydrate |
| ७७ शर्करा वृद्धि दोष | Glycogenic Infiltration |
| ७६ शोथोत्पादन | Swellıng |
| १६ संचारी | Epidemic |

| | | |
|---|---|---|
| १६ | संचारी व्याधि | Epidemic contaious and Inteccious |
| १४६ | सशमन प्रभाव | Alteratives |
| ३७ | शीर्ष मण्डल | Nerbous System |
| ३७ | शीर्ष मण्डल प्रदाह | Cerebiospinal Fe |
| ६२ | श्लेष्मिक कला | Mocous Membrane |
| २६ | शरीर रक्षक | Levcocytes or white corposcles |
| १५ | शलाकाकृति | Bacilli |
| १८ | शरीरावयव | Living cells |
| ३६ | शोषी व्रण | Tuberulur Fistula |
| | सन्तत ज्वर | Remittent Feur |
| १३१ | स्वतः परिपालनीय गुण | Mechanical energy |
| २० | सजीव कोष | Living cells |
| ३३ | संस्मरणीय शक्ति | Representative |
| ६७ | सात्म्यरूप | Assimilation |
| १३१ | स्वभाव | Character |
| १३ | सूचीवेधन चिकित्सा | Injection Therapy |
| ६२ | सजीव कोष | Livingcell |
| १६ | संचारी व्याधि | Infection Disease |
| १६ | सूक्ष्म जन्तुवाद | Bacteriology |
| ११ | सूक्ष्म जन्तु | Germs |
| २१ | सूची वेधन | Injection |
| ३२ | संस्कृति | Plasti city |
| ३२ | संस्कारिक धारा | Infiuencevs of circulation |

d Intercious

| | | |
|---|---|---|
| '६ | सुराबीज | Yeast |
| ८१ | स्नेह कांदव | Emuesion |
| | मंसक्त मौलिक भोज्य | Proximate principles |
| ५० | स्नेही | Hydrocarbon |
| १५ | स्थावर वर्ग | Animal world |
| ४६ | सार | Starch |
| १३८ | संताप | Fevı |
| | हाईड्रोज्ज | Hydrocarbons |
| | क्षुद्रान्त्र रस | Succusentricus |
| २१ | क्षामक शक्ति | Immunıty |
| २६ | क्षमता | Immune |
| ५१ | क्षुद्रान्त्र ग्रन्थिया | Samll Ibtestıne glands |
| १२५ | क्षयी शोष | Tubeıcul Cirıhosis |
| ,, | क्षयी विष | Tubercul Toxin |
| ,, | क्षय कीटाणु | Tulorcul Baicille |
| ५७ | क्षय पूर्त्ति | Mitabolism |
| ७१ | क्षतन | Ulcer |

pecks

1336

आयुर्वेद विज्ञान ग्रन्थ-माला का प्रथम पुष्प

# आसव विज्ञान

यह किसी से छिपा नहीं कि आयुर्वेद का एक चमत्कार पूर्ण अंग आसवारिष्ट का निर्माण क्रम हमारे पास कितना अपूर्ण रूप में रह गया है। सौ वार बनाइये कठिनता से दो चार वार खराब होने से बचता है। इसका मुख्य कारण है हमारी प्राचीन रीति का लुप्त हो जाना। इसी लुप्त प्राय विधि को स्वामीजी ने बड़े परिश्रम से पुनः प्राप्त किया है और उसी को आधुनिक विज्ञान से परिमार्जित कर उक्त पुस्तक में सरल सुस्पष्ट रूप में अंकित किया है। जिसका विस्तार निम्न है।

१—आसव की प्राचीनता और उसका ज्ञान, २—आसव का व्यवहार और उसके मादकता का अनुभव, ३-नाड़ी यंत्र का आविष्कार और उसके भिन्न २ सचित्र रूप, ४—आसव सुरा की एक्यता और उसके प्रमाण, ५—आयुर्वेद मे आसव का स्थान, ६—आसव बनाने का प्राचीन क्रम व भेद, ७—बने विगडे आसव की परीक्षा, ८—आसव विगडने का कारण और उसका विकृत रूप, ९—आसव व चुक्राम्लादि में भेद १०—आसव बनने का कारण, ११—आसव मे परिवर्तन और किण्व कीटाणु १२—आसवोत्पादक वस्तुएं और उनका परिमाण, १३—उत्ताप, ऋतु परिवर्तनादि से आसव का बनना विगड़ना, १४—भिन्न २ ऋतुओं में आसव का बनाना, १५—बने, विगड़े आसव की परीक्षा, १६—आसव को सुरक्षित रखने का अनुभूत उपाय, १७—आसव बनाने का अधिकार व राज्य नियम, १८—आसव का शुद्ध रूप और उसका वैज्ञानिक विश्लेषण, १९—आसव के मौलिक पदार्थ व उनका गुण। इत्यादि बातों का खूब अनुभव जन्य वर्णन है। स्वामीजी ने इस पुस्तक को दस वर्ष के पश्चात् लिखा है। मूल्य १)

आयुर्वेद विज्ञान ग्रन्थ-माला का दूसरा पुष्प

# क्षार-निर्माण-विज्ञान

यह किसी से छिपा नहीं कि आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में भिन्न२ वानस्पत्योद्भव क्षारों का काफी प्रयोग होता है। किन्तु हम देखते हैं कि वैद्यो द्वारा बनाये हुए क्षार प्राय मैले धूसर वर्ण, देखने में चित्ताकर्षक नहीं होते।

स्वामीजी ने बड़े परिश्रम से क्षार निर्माण-विधि का अनुभव किया हैं उसको वैद्यों के लाभार्थ क्रम बद्ध कर दिया है उस में निम्न लिखित विषयों का समावेश है—

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में क्षारों की उपयोगिता। (१) वनस्पतियों के मौलिक तत्व व क्षारोद्भव धातुएं। (२) भिन्न २ क्षारों का रसायनिक रूप। (३) भिन्न २ वनस्पतियों में भिन्न २ प्रकार के क्षारजन्य धातुओं की मात्रा। (४) भिन्न २ वनस्पति भस्म से क्षार निकालने की विधि। (५) क्षारों को विशुद्ध स्वच्छ बना कर उसको कण रूप में लाना। (६) भिन्न २ क्षारों के गुण और वज्र क्षार आदि बनाने का क्रम तथा क्षारो का उपयोग इत्यादि विषय का खूब खुलासा वर्णन है।

मूल्य प्रति पुस्तक ॥)

मैनेजर—

आयुर्वेद विज्ञान ग्रन्थ माला, अमृतसर।

आयुर्वेद विज्ञान ग्रन्थ माला का चौथा पुष्प

प्रेस में

# व्याधि-मूल-विज्ञान

## ( Patha Logy )

छप रहा है

जिन महानुभावो ने मन्थर ज्वर की अनुभूत चिकित्सा पढ़ी है उन से यह बात छिपी नहीं कि हमने व्याधि के मूल सिद्धान्त भिन्न ही स्थिर किये हैं और उन्हीं के आधार पर चिकित्सा क्रम की नींव रक्खी है। यह व्याधि मूल विषयक सिद्धान्त कितने निगूढ कितने दुर्भेद्य हैं, यह बात भी उक्त पुस्तक को पढने से छिपी नहीं रहती। इसीलिये जब तक व्याधि मूल विषय को वैज्ञानिक विधि से वास्तविक रूप में नहीं जाना जाता तब तक कोई भी चिकित्सक आयुर्वेद विद् नहीं हो सकता। न वह स्वयम् रोगों से निस्तारा पा सकता है, न दूसरों का कर सकता है। वैद्य, डाक्टर जब बिमार होते हैं तो वह अपनी चिकित्सा स्वयम् क्यों नहीं कर सकते ? इसका प्रधान कारण व्याधियों की वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञता के सिवाय और कुछ नहीं लेता।

जब तक वैद्य को व्याधि के वास्तविक रूप, वास्तविक स्थिति का ज्ञान न हो वह अपनी स्वयम् चिकित्सा करने का साहस नहीं करता। वह अपने जीवन का मूल्य समझता है और अपनी निर्बलता को भी अच्छी तरह से जानता है।

जिसको छिपाने के लिये यह प्रचलित किया गया है, कि वैद्य स्वयम् रोगी होकर अपनी चिकित्सा नहीं कर सकता ? पर वास्तव में देखा जाय तो यह व्याधि सम्बन्धी अनभिज्ञता है । इस त्रुटि को मैं उस समय से अनुभव करता चला आया हू, जब से मैने चिकित्सा क्रम में हाथ डाला था, इसीलिये चिकित्सा विषयक और बातो को छोड़कर इसी एक विषय का निरन्तर १५ वर्ष तक अनुसन्धान करता रहा तथा वैज्ञानिक विधि से इसकी सत्यता ढूंढ़ता रहा । मैं वैज्ञानिकों को सहस्र २ धन्यवाद देता हू, जिनकी कृपा से मुझे व्याधि मूल विषयक पूर्ण प्रयोग के जानकारी मिली, और जिनकी सहायता से मै इस विषय को सिद्धान्त रूप में स्थिर कर सका हू । इस विषय में मै कहां तक सफली भूत हुआ हू पाठक इस पुस्तक के निम्न लिखित परिच्छेदों के पढ़ने तथा पुस्तक देखने से ही मालूम करेंगे । इस पुस्तक में निम्नलिखित विषयों का क्रम युक्त सकलन किया गया है ।

(१) सूक्ष्म शरीर और बृहद् शरीर (२) सूक्ष्म शरीर और बृहद् शरीर का रसायनिक सगठन (३) शरीर के रसायनिक उपादान (४) भोजन के रसायनिक उपादान (५) शरीर मे भोजन का रसायनिक परिवर्त्तन (६) उसके मुख्य व गौण रूप (७) शरीर में योग्य अयोग्य पदार्थ (८) शरीर की क्षय पूर्त्ति व वृद्धि का कार्य क्रम (९) तथा योग्य अयोग्य पदार्थों की उत्पत्ति (१०) अयोग्य पदार्थों की उत्पत्ति के और प्रधान २ कारण (११) अयोग्य पदार्थों के नाम व उनके रसायनिक रूप (१२) अयोग्य पदार्थों से वृद्धि, विकृति या विकार का सम्बन्ध (१३) वृद्धि व विकृति मे अन्तर (१४) वृद्धि के नाम और रसायनिक रूप (१५) वृद्धि से उत्पन्न होने वाली भिन्न २ अवस्थायें व रोग (१६) विकृति

(दोष) के नाम व रसायनिक रूप (१७) शरीर पर विकारों ( दोषों ) से उत्पन्न होने वाली भिन्न २ अवस्थायें व व्याधियां (१८) उनके नाम व रसायनिक रूप (१९) विकारों से व्याधि जनक जैवों का सम्बन्ध (२०) विकारों से जैव व्याधियों की सहायता (२१) जैवी व्याधियों से शरीर पर उत्पन्न होने वाली दशायें और उनके रसायनिक रूप (२२) व्याधि जैवों की शरीर रचना व स्वभाव प्रभाव (२३) तथा उनके नाम रूप आदि

उक्त वर्णन के साथ २ लगभग सूक्ष्म शरीर के भिन्न २ कोई २० चित्र तथा जैवों के ३० चित्र दिये गये हैं। और प्रत्येक विषय को अच्छी तरह से चित्रों द्वारा समझाया गया है। पुस्तक अपने विषय की एक है, प्रेस में दी जा चुकी है। जिसका मूल्य ५) है। किन्तु, पुस्तक प्रकाशित होने से पूर्व ग्राहक बनने वालों को १) रु० रियायत होगी अर्थात् उन को प्रकाशन से पूर्व ग्राहक होने पर ४) में मिलेगी।

मैनेजर—आयुर्वेद विज्ञान ग्रन्थ माला

अमृतसर।

सूर्यावर्त्त, शंखक की सूचीवेधी
अद्भुत औषध

योग—पेटेण्ट होने से बतलाया नहीं जा सकता।

लाभ—आयुर्वेद में सर्व प्रथम सूचीवेधन द्वारा सिर दर्द को लाभ पहुंचाने वाली अद्भुत औषध। एक बार के सूचीवेधन करने पर दर्द इस तरह जाता है जिस तरह मंत्र द्वारा भूत।

एक शीशी हजारों बार काम में लाइये। मूल्य १॥)

# भारी रियायत ! भारी रियायत !!

हम वैद्य व्यापारियों के लिए जो २ थोक माल वारम्बार तय्यार करते हैं, उनमें से विशेष रूप से इस समय भारी मात्रा में च्यवन प्राश्य लाक्षादि तेल और बसन्त मालती बनाये जा रहे हैं। जो व्यक्ति कम से कम बीस सेर च्यवन प्राश और दस सेर लाक्षादि तेल तथा ५ तोला बसन्त मालती खरीदेंगे उनको तीनों वस्तुएं निम्न लिखित भाव पर दी जायगी।

| | |
|---|---|
| १—च्यवन प्राश्य | ५०) मन |
| २—लाक्षादि तेल | १००) मन |
| ३—स्वर्ण बसन्त मालती | ४०) छटांक |

नोट—उक्त दोनों योग शार्ङ्गधर संहिता से तय्यार होते हैं। तीसरा योग योगरत्नाकर का है।

यह वस्तुएं किसी भी व्यक्ति को उक्त मात्रा से न्यून इस भाव पर नहीं भेजी जायेंगी।

**मैनेजर**